अवांछनीय प्रचलनों को
उलटने की आवश्यकता
-श्रीराम शर्मा आचार्य

अवांछनीय प्रचलनों को उलटने की आवश्यकता

☆

लेखक:

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

☆

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०– २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१४ मूल्य : १२.०० रुपये

धर्म क्या है ? विकृतियाँ कैसे पनपती हैं ?

किसी विद्यालय में तीन छात्रों को उनके सदाचरण और उत्कृष्ट चरित्र के लिए पुरस्कृत किया गया। पुरस्कार में तीनों को सम्मिलित रूप से एक सिक्का दे दिया गया कि वे जाकर उसे आपस में बाँट लें। छात्रों में से एक भारतीय था दूसरा पारसी और तीसरा अँग्रेज। एक दूसरे की भाषा समझ पाने में असमर्थ थे। सिक्के का बँटवारा करने में समस्या खड़ी हुई। अँग्रेज लड़के ने अपनी भाषा में कहा— मुझे अपने हिस्से का 'वाटरमेलन' चाहिए। पारसी ने अपनी भाषा में कहा—'हन्दुवाना' होना और भारतीय लड़के की माँग थी कि मुझे 'तरबूज' मिलना चाहिए। एक दूसरे की भाषा से अपरिचित होने के कारण तीनों अपनी-अपनी माँग के लिए रट लगाते रहे। आपसी विवाद बढ़ता गया।

तीनों की बातें मार्ग से गुजरने वाला एक ऐसा व्यक्ति सुन रहा था जो अंग्रेजी पारसी तथा हिंदी तीनों ही भाषाओं का विद्वान था। उस व्यक्ति ने वह सिक्का अपने हाथ में ले लिया और बाजार से एक बड़ा तरबूज खरीदकर तीनों के सामने रख दिया। तीनों प्रसन्न थे कि उनकी मनचाही वस्तु मिल गई। पर अपनी इस अज्ञानता पर कि वस्तुतः तीनों की माँग एक थी पर एक दूसरे की भाषा न समझ सकने के कारण वे आपस में लड़ रहे थे, वे मन ही मन पश्चाताप करने लगे।

सांप्रदायिक मतभेदों एवं विवादों में प्रायः इसी प्रकार की भ्रांतियाँ काम करती हैं तथा आए दिन अनेकानेक समस्याओं का कारण बनती हैं। प्रचलित सभी धर्म संप्रदायों का लक्ष्य एक है। वह है— मानवीय व्यक्तित्व को परिपूर्ण बनाना तथा जीवन लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक बनना। यह धर्म के शाश्वत सिद्धांतों को हृदयंगम करने तथा

आचरण में उतारने से ही संभव हो पाता है। संप्रदाय धर्म का वह कलेवर है जो समय-समय पर देश काल की विभिन्न परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुरूप अनेकों रूपों में विकसित हुआ है। यह परिवर्तनशील है। अपरिवर्तनीय, शाश्वत तत्त्व धर्म के वे सिद्धांत हैं जो हर कार्य में एक जैसे रहते हैं तथा सभी धर्म-संप्रदायों में एक जैसे पाए जाते हैं। संप्रदायों का विशालकाय कलेवर इसीलिए चुना गया होता है कि वे उच्चस्तरीय सिद्धांतों के परिपोषण में अपना योगदान दें। धर्म के इस महान लक्ष्य की उपेक्षा-अवहेलना होने अथवा उपरोक्त तथ्य को न समझ पाने के कारण ही सांप्रदायिक मतभेदों-मनमुटावों, विवादों एवं विग्रहों का सूत्रपात होता है।

संस्कृत शब्द 'धर्म' स्वयं ही धर्म का यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत करता है। धर्म 'धृ' धातु से निकलता है, जिसका अर्थ होता है—'बाँधे रखना या सँभाले रखना।' अँग्रेजी का बहुचर्चित 'रिलीजन' शब्द दो लैटिन शब्दों 'रि' और 'लिजारे' से मिलकर बना है जिसका अर्थ है—'फिर से बाँधना'। उर्दू के मजहब शब्द का भावार्थ होता है—'एक ऐसा रास्ता जो सुख-शांति और नेकी के मार्ग पर ले जाता हो।'

विभिन्न-धर्मों के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले संबोधन भी धर्म के वास्तविक लक्ष्य पर प्रकाश डालते हैं। 'इस्लाम' शब्द 'सल्म' से निकला है जो शांति या अमन का पर्याय है। अर्थात इस्लाम का लक्ष्य है—संसार में शांति की स्थापना। वैदिक धर्म अर्थात ज्ञान धर्म—मानव मात्र को आत्म सत्ता का एक अविच्छिन्न अंग मानने वाला धर्म। बौद्ध धर्म अर्थात बुद्धि-विवेक का धर्म। क्रिश्चियेनिटी शब्द 'क्रिस्टास' शब्द से बना है जिसका अर्थ है—'ईश्वरीय ज्ञान में नहाया हुआ अर्थात मानव मात्र में एक सत्ता देखने वाला।' जापान का पुराना धर्म शिन्तो है। शिन्तो का अर्थ 'सब आत्माओं का एक परम पथ' होता है। प्रचलित धर्म 'ताओ' का अर्थ भी सर्वश्रेष्ठ रास्ता है। इन

सबमें कहीं भी धर्म शब्द संकुचित सांप्रदायिक अर्थों में प्रयुक्त नहीं हुआ है । प्रकारांतर से सभी यही कहते हैं कि जो समस्त मानव जाति को एकता के सूत्र में आबद्ध करे—उन्हें सद्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे, वही ही सच्चा धर्म है।

फिर आए दिन विभिन्न धर्मानुयाइयों में मतभेद क्यों दिखाई पड़ते हैं? सांप्रदायिक दंगे क्यों छिड़ते हैं? उत्तर स्पष्ट है—धर्म के शाश्वत लक्ष्य की उपेक्षा होना तथा बाह्य कलेवरों—क्रिया-कृत्यों को अधिक महत्त्व देने लगना। अमुक धर्म बड़ा और अमुक छोटा, यह प्रतिपादन वे ही करते हैं जो धर्म के वास्तविक स्वरूप से अपरिचित हैं। भ्रांतियाँ फैलाने एवं परस्पर एक-दूसरे के प्रति वैमनस्य पैदा करने में भी ऐसे ही दिग्भ्रांत व्यक्तियों की प्रमुख भूमिका होती है। धर्म का जीवंत रूप आचरण में—श्रेष्ठ व्यक्तित्व के रूप में परिलक्षित होता है। जब वह प्रकट होता है तो अपने प्रकाश से अनेकों हृदयों को आलोकित करता है, नवजीवन का संचार करता है। धर्म की साक्षात जीवंत प्रतिमा के रूप में जहाँ भी ऐसे व्यक्ति अवतरित होते हैं, उनकी निकटता—सान्निध्य प्राप्त करने के लिए हर किसी का मन ललचाता है। संप्रदाय और मजहब की दीवारें उन्हें संकीर्ण परिधि में नहीं बाँध पातीं। अपनी सत्ता सबमें और सबको अपने में देखने वाले बुद्ध, ईसा, महावीर को कैसे किसी संप्रदाय विशेष का प्रतीक-प्रतिनिधि माना जा सकता है। यह सच है कि इन महापुरुषों ने एक संप्रदाय विशेष में जन्म लिया पर उतना ही सच यह भी है कि उन्होंने सांप्रदायिक बंधनों को कभी स्वीकार ही नहीं किया। सदा विवेक का अवलंबन लिया और विभिन्न धर्मों को एक धर्म के रूप में स्वीकार किया। एक विशेष पंथ का अनुयायी होते हुए सदा सार्वभौम सिद्धांतों का प्रतिपादन किया और समस्त मानव जाति को एकता के सूत्र में आबद्ध करने का प्रयास किया। आत्मवत् सर्वभूतेषु-वसुधैव कुटुंबकम् इन महामानवों का मूलभूत मंत्र रहा है।

एक प्रसिद्ध संत का कहना है कि 'हमारा धर्म-हमारा मजहब हमारे चेहरे पर ऐसी मुस्कराहट के रूप में दिखाई पड़ना चाहिए जो दूसरों के हृदय को जीत ले। हृदय में ऐसी उमंग पैदा करे कि हर किसी को अपने अंचल में समेट ले। जब कभी दूसरों में अपनी खुशियाँ बाँटने और दूसरों के दु:ख दर्द में हिस्सा बँटाने की आकांक्षा उभरे तो समझना चाहिए कि धर्म ही प्रत्यक्षत: जीवन में अवतरित हो रहा है।'

एक धर्म प्राण देश होने के कारण अपने देश में धर्म में आस्था रखने वालों की संख्या अधिक है। संप्रदाय पंथों की संख्या भी उतनी ही अधिक है। धर्म के संबंध में भ्रांतियों की भी कमी नहीं है। जितने सांप्रदायिक झगड़े यहाँ होते हैं उतने शायद ही विश्व के अन्य किसी देश में होते हों; हिंदू, मुस्लिम, ईसाई, सिख, बौद्ध, पारसी आदि विभिन्न धर्मों के मानने वाले एक साथ इस देश में निवास करते हैं। विभिन्न मत-मतांतरों के मानने वाले इस देश में पहले भी एक साथ रहते थे, पर अपने-अपने संप्रदायों में रहते हुए भी वे सदा मनुष्य जाति को एकता के सूत्र में बाँधने एवं समता, शुचिता एवं सहिष्णुता का पाठ हृदयंगम करने के लिए ही प्रयासरत रहते थे। भारतीय धर्म एवं संस्कृति को विश्व में असाधारण गौरवमय स्थान इसीलिए प्राप्त था। कालांतर में धर्म के प्रमुख लक्ष्य के गौण बन जाने तथा संप्रदाय धर्म का पर्याय हो जाने से मतभेद बढ़ने लगे। जिस देश ने कभी विश्व को अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं से अनुप्राणित किया था, आज सांप्रदायिक मतभेदों के कारण विघटन के कगार पर खड़ा है। ऐसे में विभिन्न धर्म संप्रदायों का नेतृत्व करने वाले मूर्द्धन्य व्यक्तियों का यह नैतिक कर्तव्य होता है कि देश को अखंडता एवं सबको एकता के सूत्र में बाँधने के लिए धर्म को सांप्रदायिक संकीर्णता से बाहर निकालें और उसके स्वरूप एवं लक्ष्य को सही रूप में प्रस्तुत करें।

अंधविश्वासों के जाल में न उलझें

धर्म समाज के लिए निश्चय ही आवश्यक है, किंतु इसकी आड़ में छिपी धार्मिक मूढ़-मान्यताएँ उतनी ही हेय व घृणित हैं। अंध-विश्वासों से मानव समाज का जितना अहित हुआ है उतना अधर्म या नास्तिकवाद ने भी नहीं किया।

प्राचीनकाल में धर्म के नाम पर नर-बलि जैसी अंध परंपराओं का जन्म हुआ। मूढ़ता की इस बलिवेदी पर अगणित नर-नारी होम दिए गए, क्रंदन से आकाश गूँजा, फिर भी निष्ठुर धर्मभीरुता क्रूर ही बनी रही, इस प्रकार के धर्मानुष्ठान करने वाले धर्मभीरु ठेकेदारों को जनता का सहयोग-सहकार सतत मिलता रहा। उन दिनों नरबलि के ऐसे वीभत्स क्रियाकृत्य प्रचलित थे जिन्हें सुनकर आज भी रोमांच हो आता है। देव-प्रतिमाओं के समक्ष उन्हें प्रसन्न करने के लिए नर-नारियों की बलि चढ़ाना, राजाओं अथवा संपन्न व्यक्तियों के मरने पर उनके दास-दासियों व नौकरों को उनके साथ जिंदा दफना देना आदि क्रूर कृत्यों के ऐसे अगणित उदाहरण हैं जिनसे इतिहास भरा पड़ा है।

प्राचीन समय में अपने देश में एक मूढ़-मान्यता सती-प्रथा के रूप में प्रचलित थी, जिसमें पत्नी को अपने दिवंगत पति के साथ जलना पड़ता था, ताकि पत्नी की सेवा-भक्ति उसे दूसरे लोक में भी प्राप्त हो सके। मिश्र आदि देशों में संबंधियों के निधन पर उत्तराधिकारी न सिर्फ उनकी प्रिय वस्तुओं को शव के साथ दफनाने का प्रबंध करते थे अपितु पत्नियाँ व नौकर-चाकर भी उनके साथ ही दफना दिए जाते थे जिससे उनका उपभोग कर वे संतुष्टि प्राप्त कर सकें।

मिस्र के राजाओं की कब्र विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई हैं। पहाड़ियों के बीच भयंकर खाई व रेगिस्तानी इलाकों को ही वे अपनी श्मशान भूमि बनाते थे। अधिक सुविधाजनक सुरक्षित होने के कारण राजा काहिरा चले गए। वहीं पर यह घाटी है जहाँ उनकी कब्रें बनी हुई हैं।

इस कब्रिस्तान में तूतन खामन की कब्र सबसे मूल्यवान मानी जाती थी। एक उत्साही एवं साहसी अंग्रेज युवक हार्बर्ड कार्टर के लगातार परिश्रम के बाद यह बहुमूल्य कब्र खोज निकाली गई।

तूतन खामन की कब्र से प्राप्त संदूक तो ठोस सोने का बना था। लाश को दफनाते समय व्यक्ति की प्रिय वस्तुएँ आभूषण, अस्त्र-शस्त्र, सौंदर्य प्रसाधन, कपड़े व सैनिक-नौकर आदि भी दफना दिए जाते थे, जिससे उनका पारलौकिक जीवन भी ऐश-आराम में बीते।

पिरामिड इतने विशालकाय प्रस्तर खंडों से निर्मित हैं कि आज के मशीनी युग में उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। इन्हें घिसकर इस प्रकार बैठाया गया है कि उनके बीच सुई की नोंक के बराबर भी स्थान नहीं। पिरामिड़ों के निर्माण में गारे का बिल्कुल भी उपयोग नहीं हुआ है। मोकत्तम के पहाड़ों से विशालकाय वजनी शिलाओं को काटकर नीचे उतारना, छाती से रस्सी बाँधकर उन्हें पिरामिडों तक पहुँचाना और चार-चार सौ फीट की उतुङ्ग ऊँचाई तक पहुँचाना, इतना कठिन कार्य है जिसकी कल्पना आज नहीं की जा सकती। विवशता में आकर ही गुलाम ऐसे दुरूह कार्य स्वीकारते। इंकार करने पर हंटरों की मार झेलनी पड़ती और विदीर्ण होना पड़ता।

मिस्र में इस प्रकार के छोटे-बड़े असंख्यों पिरामिड हैं। इनके रक्त रंजित इतिहास में कितने नर-नारी होम दिए गए—वह अकल्पनीय है। निश्चय ही इनके निर्माण में खून जलाते, पसीना बहाते, पिटाई व यंत्रणा सहते, घुलते-घुलते प्राण देने वालों की संख्या लाखों को पार कर करोड़ों तक पहुँच गई होगी।

पाँच हजार वर्ष पहले ईरान में दजला और फरात नदियों के तटवर्ती क्षेत्र में शासन करने वाली रानी शुवाद की कब्र जब सन् १९२७ में खोदी गई तो उसमें भी बहुत सारे स्वर्णाभूषण मिले और पास ही पड़े दो नर-कंकाल पाए गए जो संभवत: उनके सेवक रहे होंगे। समीपस्थ एक अन्य कब्र में दस और अस्थिपंजर पाए गए।

इन सबों की बगल में विष के प्याले पड़े थे। संभवतः इसी के द्वारा उन लोगों को अपने प्राण अंत करने के लिए विवश किया गया हो।

अंधविश्वास पिछड़ेपन का प्रतीक माना जाता है, पर वह इतना वीभत्स हो सकता है, उसके पीछे जघन्य कुकृत्य किए जा सकते हैं यह कम ही लोगों को पता है। यह वर्षों से मानवों का शोषण करता रहा और अब भी कर रहा है। भारत में भूत-पलीत, बाल-विवाह, पशु-बलि, छुआछूत, पर्दा प्रथा के रूप में आज भी इसका प्रचलन कम नहीं है। धर्म की आड़ में होने वाले ऐसे कुकर्मों का उन्मूलन जब तक नहीं होगा मानवता छटपटाती रहेगी।

धार्मिक अंधविश्वासों ने लोगों का जितना अहित किया है, उतना धर्म ने भी कभी नहीं किया। उदाहरण के लिए प्राचीनकाल में धर्म के नाम पर प्रचलित अंध-परंपराओं ने नर बलि की प्रथा प्रचलित की और उस मूढ़ता की बलिवेदी पर असंख्य मनुष्यों का रक्त बहा तथा क्रंदन से आकाश गूँजा, फिर भी निष्ठुर धर्म भीरुता नहीं पिघली और वह अनर्थ हजारों वर्षों तक चलता रहा। उस धर्मानुष्ठान को करने वाले अपने को धर्मात्मा कहते रहे और आश्चर्य की बात तो यह है कि जनता भी उनके कार्यों में आँख मूँदकर सहयोगी देती रही। कौन विचारशील व्यक्ति इन प्रथा-परंपराओं को, जिनमें निष्ठुरता ही भरी हुई है—धर्म कहेगा? हालाँकि सभ्यता के साथ-साथ नर-बलि घटती चली गई। अब उसके विरुद्ध कानून भी बन गए हैं और सभ्य समाज में उनके विरुद्ध वातावरण भी है, विचारशील लोग उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं, पर उसी का छोटा रूप पशु-बलि के रूप में अभी भी विद्यमान है और समझदार कहे जाने वाले विभिन्न धर्मों के तथाकथित धर्मपरायण लोग भी उसे निष्ठुरतापूर्वक अपनाए हुए हैं। उस कुकृत्य को करते हुए उन्हें न लज्जा आती है, न संकोच का ही अनुभव होता है।

इस तरह की निष्ठुर क्रूरता के कितने ही अवशेष यत्र-तत्र विद्यमान मिलते हैं जो धार्मिक अंधविश्वासों की क्रूर कथा कहते हैं। उदाहरण के लिए मैक्सिको के नेशनल म्यूजियम में एक सात फीट ऊँचा गोलाकार पत्थर रखा हुआ है। इसे संसार का सबसे अधिक खूनी पत्थर कहा जाता है। यह पाषाण प्राचीन अजटेक्स राज्य के आदिवासियों की परंपरागत बलिवेदी रहा है, अजटेक्स निवासी धार्मिक मान्यताओं वाले भाले-भाले लोग थे। उनका विश्वास था कि मानव बलि चढ़ाने से देवता प्रसन्न होते हैं और संसार की भलाई करते हैं। यदि उन्हें यह उपहार न दिए जाएँ तो रुष्ट होकर दैवी प्रकोप उपस्थित करते हैं। इस विश्वास के आधार पर समय-समय पर वे अपने ही लोगों को पकड़कर बलि पर चढ़ा देते थे। कोई पूजागृह बनता था या राज्याभिषेक होता था तब बलि की मात्रा प्रतिष्ठा का प्रश्न बन जाती थी। पिछली संख्याओं से अधिक संख्या बढ़ाना ही उत्साह का प्रतीक माना जाता था। बलि की प्रथा भी बड़ी वीभत्स थी। सिर काटने की अपेक्षाकृत कम कष्टकर पद्धति वे नहीं अपनाते थे, वरन छाती चीरकर हृदय निकालना और उस कलेजे को देवता के सम्मुख प्रस्तुत करना यही अधिक कष्टकारक तरीका वे अपनी धर्म-भावना को चरितार्थ करने का उत्तम प्रमाण मानते थे। 'टियोकाली (स्पेन) के समीप ही एक वन्य प्रदेश में अजटेक्स जाति का एक देवालय था। स्पेन निवासियों ने इस क्षेत्र की खोज की तो मायन योलोक के इर्द-गिर्द १ लाख ३६ हजार नर मुंड इधर-उधर बिखरे हुए पाए गए। यह बलिदान किए गए निरीह मनुष्यों को खोपड़ियाँ थीं और उन्हें इस विपत्ति में फँसा देने वाला एकमात्र कारण था अंधविश्वास, जिसे वहाँ के निवासी एक गहरी धर्म श्रद्धा के रूप में अपनाते थे।

अमेरिका में युद्ध देव के मंदिर का विवरण ढेरों पत्रिकाओं में अनेक बार प्रकाशित किया जा चुका है और इसके संबंध में अनेक पुस्तकें भी लिखी गई हैं। यह मंदिर कोलंबस के अमेरिका पहुँचने

के दो सौ वर्ष पूर्व बनाया गया था। इसके लिए कई वर्षों से लोगों को पकड़-पकड़कर इकट्ठा किया जाता था और उनकी बलि दी जाती थी। यह नर-बलि सामूहिक रूप से दी जाती थी। सामूहिक बलि के समय एक उत्सव का आयोजन किया जाता था। इकट्ठे किए गए लोगों की संख्या प्रतिष्ठापना के समय हजारों की संख्या में पहुँच गई थी। देव प्रतिष्ठा के समय उन बलि-मानवों का झुंड जुलूस के रूप में निकाला गया। उनका जुलूस दो मील लंबा था। वह धीरे-धीरे आगे बढ़ता था। कई पुजारी इन बलिमानवों की छाती चीरने के लिए नियुक्त थे, जो थोड़ी-थोड़ी देर बाद यह पुण्य कार्य संपन्न करते थे। इस प्रकार अहिर्निश चार दिन में कितने ही वधकर्ताओं द्वारा वह अनुष्ठान पूरा हो पाया और बहता हुआ रक्त उस पवित्र मंदिर के पत्थर पीसने के काम में लाया गया।

प्रशांत महासागर के फातुहिवा द्वीप में मिले खंडहरों और वहाँ से प्राप्त अवशेषों के आधार पर यह निष्कर्ष निकले हैं कि उस द्वीप में पहले कभी साधन संपन्न वैभवशाली लोगों का समुदाय रहता था। वे लोग लुप्त कैसे हो गए? इस तथ्य के अनुसंधान की भी एक रोमांचक गाथा है। फ्रांस के पुरातत्व विज्ञानी डा० फ्रांसिस ने इस लुप्त जाति के लोगों के इतिहास की कड़ियाँ मिलाई हैं। जब उन्हें इस जाति के संबंध में पता चला तो खोज करते हुए उन्हें यह भी ज्ञान हुआ कि इस द्वीप में रहने वाले लोगों द्वारा बड़ी मात्रा में स्वर्ण संग्रह किया गया था, जो इसी द्वीप के खंडहरों में कहीं जमा है। डॉ० फ्रांसिस वहाँ पहुँच गए और उन्होंने जो कुछ खोज निकाला वह अद्भुत था। द्वीप में मिले खंडहर, तहखाने, बुर्जियाँ अपने निर्माताओं और स्वामियों के समुन्नत होने का प्रमाण दे रहे थे।

यहाँ प्राकृतिक साधन भी जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त थे। इतना सब होने पर भी यह पता नहीं चल पा रहा था कि वह जाति लुप्त कैसे हो गई? इस प्रश्न का समाधान डॉ० फ्रान्सिस को और

अधिक खोजने के लिए प्रोत्साहित कर रहा था। उस द्वीप के पाड नामक एक वनवासी व्यक्ति को लेकर फ्रान्सिस उस सघन वन में गए। उपलब्ध प्राचीन सभ्यता के चिह्न और अवशेषों ने उन्हें इस निष्कर्ष पर तो पहुँचाया कि यहाँ कोई साधन संपन्न और बुद्धिमान लोग रह रहे हैं, पर वे समाप्त कैसे हो गए? यही प्रश्न न समझ आने वाला था। इतिहास का यह पृष्ठ बहुत परिश्रम के बाद ही खुला।

फ्रांसिस ने उस प्रदेश में भ्रमण करते हुए उस क्षेत्र में नरबलि की प्रचलित कथा के ढेरों प्रमाण पाए जो सर्वत्र बिखरे पड़े थे। वट वृक्षों जैसी जटाओं वाले पेड़ों पर नर-मुंड इस तरह फँसे पड़े थे, मानो वे उन्हीं के फल हों। अस्थि कंकाल जहाँ-तहाँ छितरे पड़े थे। ऐसे पत्थर पाए गए जिनमें मनुष्य का सिर फँसाकर उन्हें कुल्हाड़ी से काटा जाता था । यह बड़ा वीभत्स था। कथा कहने वाले ये प्रमाण इतने अधिक थे कि एक शब्द में उसे किसी समय का नर-बलि क्षेत्र कहना भी अत्युक्ति न होगा। गहन पर्यवेक्षण और अनुसंधान करने के बाद फ्रांसिस इस नतीजे पर पहुँचे कि यहाँ कोई प्रगतिशील जाति रह रही है। यदि ऐसा न रहा होता तो वास्तुकला के गहन ज्ञान से संबंधित मजबूत भवन बनाना और उनके साधन जुटाना संभव ही नहीं होता। जो उपकरण वहाँ मिले वे बौद्धिक प्रगति और समृद्धि की साक्षी देते थे। पर लगता है कि धार्मिक अंधविश्वास की यह मान्यता उनके मन में जम गई थी।

अंधविश्वास से प्रेरित श्रद्धा ने उन लोगों को मनुष्यघाती बना दिया और उनमें से जिसके चंगुल में जो फँस जाता वह उसे पकड़कर बलि चढ़ा देता और अपनी समृद्धि तथा उन्नति की आशा करता। संभव है इसमें प्रतिशोध की भावना भी जन्मी हो और उनमें देव अनुग्रह को लालसा के साथ नर-बलि की मात्रा को अति की सीमा तक पहुँचा दिया हो। हो सकता है पुरोहितों ने इस प्रक्रिया को प्रचलित किया हो और वे सब इस नर-बलि की प्रथा में निमग्न

होकर अपना अस्तित्व ही खो बैठे हों। फ्रांसिस ने इस शोध में अपने साथ रहे आदिवासी पाड से सुनी प्रचलित दंत कथाओं के आधार पर बताया कि इस लुप्त जाति के लोग समय-समय पर बड़े-बड़े धार्मिक समारोह आयोजित करते थे। इन समारोहों में दूर-दूर से लोग सम्मिलित होने के लिए आते और इकट्ठे होते थे। मशालें जलाई जाती थीं, नगाड़े बजते थे, उन्हीं अवसरों पर शंख और सींगों से बनी तुरही का प्रयोग होता था। इसके बाद चलता था मद्यपान और नरबलि का वीभत्स दौर। रक्त की धाराएँ बह जातीं, घायलों और मृतकों को देव कृपा का पात्र समझा जाता था और ये धर्मानुष्ठान इतने बढ़े कि यह समुन्नत जाति इसी जंजाल में फँसकर अपना अस्तित्व गँवा बैठी। उनके चिह्न अवशेष मात्र बाकी रह गए।

अफ्रीका में भी धार्मिक अंधविश्वासों के कारण हुए नर संहार की अगणित घटनाओं के प्रमाण मिले हैं। वहाँ की धर्म पुरोहित महिलाएँ डाकिन देवियों को प्रसन्न करने के नाम पर भूतकाल में अगणित मनुष्यों के प्राण हरण करती रही हैं। यदा-कदा तो इन दिनों भी वहाँ इस तरह की घटनाएँ प्रकाश में आती रहती हैं। कुछ दिन पूर्व तगांनिका (अफ्रीका) की राजधानी दारे सलाम के उच्च न्यायालय में तीन डायनों के विरुद्ध अभियोग चला। उससे वहाँ प्रचलित इस नरबलि के संबंध में कई नई बातें प्रकाश में आईं। जिन तीन डायनों के विरुद्ध अदालत में मुकदमा चला उनके नाम थे—नेआमसेनी, जामाल्टा और जापिवू।

ये तीनों महिलाएँ मुकद्दमे की कार्यवाही के दौरान रंग-बिरंगी जादुई चादरें, जिसे वहाँ की भाषा में कांगा कहते हैं, ओढ़े बैठी रहीं। उनका विश्वास था कि उसे पहन लेने पर उनका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। पुलिस अधिकारी ने उन पर नृशंस हत्याओं के अभियोग लगाए। जब उनके विरुद्ध लगाए गए आरोप अदालत में पढ़कर सुनाए तो वे सुनकर मुस्करा भर दीं, मानो उन्हें कोई

प्रशंसनीय काम करने का श्रेय दिया जा रहा हो। अदालत ने इन तीनों डायनों को चौदह वर्ष की सजा दी। न्यायाधीश ने अपने फैसले में लिखा कि इस क्षेत्र में फैला हुआ अंधविश्वास एक प्रकार से डाकिनी आतंक का पृष्ठ पोषण ही कर रहा है। जिस लड़की की बलि दी गई थी उसके पिता तक ने डाकिनी के विरुद्ध गवाही नहीं दी। उसे डर था कि इससे कुपित होकर डाकिनी उसे या उसके परिवार के अन्य लोगों को क्षति पहुँचाएगी। लोग इन नृशंस स्त्रियों के कुकृत्यों की चर्चा तक करने से डरते हैं। ऐसी दशा में सबूत के अभाव में उन्हें प्राणदंड जैसी सजा कैसे दी जाए? जबकि ये आए दिन इसी प्रकार की हत्याएँ और क्रूर कर्म करते रहने की अपराधी हैं।

नरबलि या पशुबलि तो उन अंधविश्वासों का एक छोटा-सा हिस्सा मात्र हैं जो धर्म की आड़ में पलते और बढ़ते रहते हैं। अपने देश में भी मध्यकाल में नरबलि का धुँआधार प्रचलन था। आजकल भी समाचार पत्रों में आए दिन देवी को प्रसन्न रखने के लिए इस तरह की घटनाओं के समाचार छपते रहते हैं। इसके अतिरिक्त टोना-टोटका, जंतर-मंतर आदि के नाम पर कितने लोग मारे जाते हैं? इसकी न तो गणना की जा सकती है और न ही हिसाब लगाया जा सकता है। विचार किया जाना चाहिए कि जो धर्म व्यक्तिगत जीवन को सुखी समुन्नत बनाता है, आत्मिक उत्कर्ष का आधार तैयार करता है तथा सामाजिक सुव्यवस्था कायम करता है, यह इन हत्याओं, जघन्य कृत्यों की प्रेरणा किस प्रकार देता है। निश्चित ही उसका धर्म से कोई संबंध नहीं है। धर्म को जीवित रहना चाहिए और उसका समर्थन पोषण करना चाहिए, पर धर्म के नाम पर प्रचलित इन अंधविश्वासों का जितनी जल्दी हो सके उन्मूलन ही करना चाहिए, जिनने सदा से मनुष्य को कलंकित किया है और उसे पतन के गर्त में गिराया है।

मानवी गरिमा पर एक कलंक—नरबलि

भारत को हम स्वर्णिम अतीत के नाम पर कितना ही सराहें, आत्म प्रशस्ति कर लें पर पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में अभी यह साँप, साधु और अंधविश्वासों का देश है। इसका अर्थ यह नहीं कि उनका सोचना सही है, पर कहीं-न-कहीं आंशिक रूप से एक प्रचलन—कुरीति अवांछनीयता के रूप में हमारे समाज में अभी भी विद्यमान है। वह है अदूरदर्शिता वश-तुरंत लाभ की कामना से मूढ़-मान्यताओं पर इतना विश्वास कर लेना कि उसके लिए जघन्य कृत्य तक कर डाला जाता है।। औचित्य-अनौचित्य की चिंता किए वगैर कितने ही पढ़े-लिखे समझे जाने वाले भी इन अंधविश्वासों की चपेट में आकर अपना सर्वस्व खो बैठते हैं। सारी आधुनिकता एक ओर रखी रह जाती है और एक बाजीगर चमत्कारी जादूगर के कहने में आकर वे उसकी ही मानने लगते हैं।

शरीर के एक अंग में कुष्ठ हो तो सारा शरीर रोगी होता है—पीड़ा सहता है। तालाब में एक मछली गंदगी फैलाती है, पर बदनाम सारी ही होती हैं। गाँव में उत्पाती गिने चुने होते हैं, पर दंड सामूहिक रूप से भुगतना होता है। यही बात अंधविश्वासों के साथ है। हमारे वृहद समाज में कहीं भी ऐसी ही कोई घटना घटती है तो यह हम सबकी सामूहिक जिम्मेदारी है। कहने को तो अफ्रीका व संयुक्त अमेरिका, स्विट्जरलैंड जैसे राष्ट्रों में ऐसी घटनाएँ होती सुनी गई हैं। साऊथ अफ्रीका के धर्मांध लोगों द्वारा सामूहिक आत्महत्या व अफ्रीका के कबीलों की अंध परंपराओं की घटनाएँ घटती रहती हैं। स्वामी ओमानंद नामक तांत्रिक द्वारा २ माहिलाओं की स्विट्जरलैंड में बलि दिए जाने की घटना अभी भूली नहीं है। पर ऐसे अपवादों की तुलना में हमारे देश में इनका

औसत इतना अधिक है कि पढ़-सुनकर लगता है, अभी भी हम आदिम युग में जी रहे हैं।

टोना-टोटका, झाड़-फूँक, भूत-पलीत, देवी-देवताओं आदि की मूढ़ मान्यताएँ तो अब सामान्य-सी श्रेणी में आती हैं। पर जब पशुबलि एवं नरबलि की घटनाएँ प्रकाश में आती हैं और इनका वर्णन समाचार पत्रों में इस प्रकार होता है जैसे एक सहज सामाजिक प्रचलन का वर्णन किया जा रहा हो तो लगता है, क्या हो गया है? इस देश के प्रबुद्ध समाज को, राष्ट्र के कर्णधारों को। क्यों ये कान में उँगली डाले बैठे हैं? धर्म के नाम पर घटने वाली ऐसी बलियों की जहाँ भर्त्सना की जानी चाहिए, वहाँ कानूनी दाँव-पेचों के कारण ऐसे लोग खुले घूमते नजर आते हैं। अंदर का 'मन्यु' किसी का जागता ही नहीं। सब अपने स्वार्थ में लिप्त प्रसुप्त पड़े जीवन बिताते रहते हैं।

मध्य प्रदेश के रींवा जिले के चित्रांगी नामक कस्बे में, इसी वर्ष अक्टूबर माह में कालिका देवी के एक मंदिर में एक साधु और उसके तथाकथित चेले को नरबलि देते पकड़ा गया। औघड़ बाबा नाम से जाना जाने वाला यह साधु सिद्धियाँ जानता है, इसका प्रचार पहले ही उस क्षेत्र में कर दिया गया। अपने चेले को भी सिद्ध बनाने की विद्या सिखाने के लिए उसने धोखे से दो युवकों को मंदिर में बुलवाया। देवी के समक्ष झुकते ही पीठ पर तलवार का वार किया। किसी तरह वे जान बचाकर भागे। उनमें से एक को मरणासन्न स्थिति में अस्पताल में भर्ती किया गया। आश्चर्य की बात तो यह है कि इस औघड़ बाबा की यह करतूत जानते हुए भी एक अच्छी खासी समर्थकों की भीड़ गिरफ्तारी का प्रतिरोध करती रही। क्या कहा जाए, इस मूढ़ता जन्य अंधविश्वास को।

इसी वर्ष जून माह की बात है। पी० टी० आई० से प्राप्त एक समाचारानुसार रुड़की में एक महिला और उसके पति को एक भोले-भाले पड़ोसी के शिशु की बलि के बाद गिरफ्तार किया गया।

महिला निस्संतान थी। किसी ओझा महोदय से जो सुदूर गाँव में इसी के आधार पर अपनी जीविका चला रहे थे, परामर्श किया गया। उसने कहा कि यदि वह ५ वर्ष तक के किसी अबोध बालक के रक्त से स्नान करेगी तो उसके पुत्र उत्पन्न हो जाएगा। महिला के पति ने कुटिल चाल चलाई, बहला-फुसलाकर एक पड़ोसी के बच्चे का अपहरण कर उसे गंड़ासे से मारकर रक्त एकत्र किया व अपनी पत्नी को स्नान कराया। घटना का पता चलते ही पुलिस पहुँची व दोनों को गिरफ्तार कर लिया गया। पुत्र प्राप्ति की खातिर कितने ही जघन्य कृत्य इसी प्रकार घटते रहते हैं। कुछ प्रकाशित हो जाते हैं व कुछ का पता भी नहीं चल पाता। यह कैसी भ्रांति है जो किसी महिला को गर्भवती होने के लिए नरबलि के लिए प्रेरित कर देती हो।

इसी वर्ष १२ मार्च को बस्ती जिले के कप्तान गंज थाने के चनईपुर गाँव में इसी प्रकार ५ पुत्रियों की माँ, पुत्र प्राप्ति की इच्छुक एक गर्भवती महिला ने अपने ही गाँव के एक तीन माह के बच्चे को बलि पर चढ़ा दिया। ओझा-सयाने का परामर्श किसी संतान वाली महिला को भी पुत्र लोभ में ऐसा करने को विवश कर दे, यह मात्र किसी आदिम समाज में ही संभव है।

इसी प्रकार अघोरी द्वारा बताए जाने पर उदयपुर के लखमा नामक एक व्यक्ति ने संतान की लालसा में अपनी भाभी की हत्या कर डाली। अघोरी ने अपनी 'सिद्धियों' से उसे यह बताया था कि उसकी भाभी डायन है, वही संतानों को गर्भ में नहीं आने देती। क्रोध के आवेग में वह मूढ़ अपनी भाभी को कुल्हाड़ी से ही मार आया। पुलिस उसे पकड़ती तब तक वह निरपराध महिला अपने प्राण छोड़ चुकी थी।

गत नवंबर में औरंगाबाद के हल्दा गाँव के शेनुडागरु शीमरे को किसी तांत्रिक ने यह बताया कि उसे पुत्र इसलिए नहीं हुआ कि उसकी पत्नी में चुड़ैल का वास है। उसको पहले ही तीन पुत्रियाँ हैं।

पुत्र के लोभ में चुड़ैल को समाप्त करने चला शेनु पत्नी मोनाबाई की ही जान ले बैठा।

संतान की तरह ही धन प्राप्ति, पद-लिप्सा, विरोधी से बदला लेने जैसी अन्यान्य मनोकामनाओं की पूर्ति के लिए भी नरबलि, पशुबलि जैसी घटनाएँ घटती देखी गई हैं।

मनोकामना सिद्धि की खातिर कोई अपनी संतान की ही बलि चढ़ा देगा, यह हमारे लिए कल्पना की बात हो सकती है, पर बरेली के मदना गाँव के रामसनेही ने तो धन मिलने के लोभ में ओझा के निर्देश पर नागपंचमी के दिन अपने ही आठ वर्षीय मासूम बच्चे की गरदन काटकर देवी के समक्ष रख दी। ऐसी क्रूर व निर्मम घटनाएँ एक ही तथ्य का रहस्योद्‌घाटन करती हैं कि लोगों ने 'शार्टकट' से चलना सीखा है। उनमें विवेक बुद्धि इतनी है ही नहीं कि पुरुषार्थ से देवी-देवता प्रसन्न होते हैं, इन कुकृत्यों से नहीं। प्रकाश में तो कुछ ही घटनाएँ आती हैं, इनमें से अस्सी फीसदी तो जानकारी में भी नहीं आतीं।

मानव के माथे पर नरबलि के कलंक का टीका कैसे लगा, कब लगा, इसकी सही जानकारी तो उपलब्ध नहीं, किंतु समाजशास्त्रियों की मान्यता है कि इस बर्बर, क्रूर और अमानवीय प्रथा का प्रचलन उसी समय में हुआ होगा जब मनुष्य पाषाण युग में गुजर रहा था और वन, पर्वत, कंदराओं में निवास करना और आखेट के सहारे जीविका उपार्जन किया करता था। तभी उसे किसी अदृश्य शक्ति का भय व्याप्त हुआ और दैवी प्रकोपों, हिंसक पशुओं, ईति-भीति से बचने के लिए कभी नरबलि प्रारंभ हुई होगी। किंतु अब न पाषाण युग है, न वन कंदराओं का निवास, न हिंसक पशुओं का भय, न देवताओं का आकस्मिक त्रास, फिर भी नर बलि का सिलसिला इस सभ्यता के युग में समाप्त नहीं हो पा रहा है।

इस सबके लिए विचारकों का कहना है कि सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य की लोभी लालची वृत्ति समाप्त न होकर उल्टे

विकसित हुई है और शिक्षित होकर भी अंध विश्वास जैसी भ्रांत धारणाएँ भूत की तरह आज उन पर सवार हैं।

संसार के सभी देशों के लोक साहित्य और किवदंतियों में नरबलियों का उल्लेख मिलता है। प्राचीनकाल में विकसित सभ्यता वाले समाज भी इस क्रूर और बर्बर प्रथा से पीड़ित रहे हैं। कितनी ही बार पुरातत्व वेत्ताओं को उत्खनन में प्राप्त नर-कंकाल और नरमुंडों से नरबलि के प्रमाण मिले हैं। चीन की विशाल दीवार के निर्माण काल में अनेकों नरबलियाँ इसलिए दी गईं कि दीवाल का निर्माण सुदृढ़ और निर्विघ्न हो। मिस्र के तूतन खामन के कब्रगाह, अरब देशों के शासकों के करवले, दक्षिण अमेरिका के पेरू, मैक्सिको में कुओं, बावड़िओं, तालाबों से प्राप्त नर-मुंड नर कंकाल नरबलि की कहानी कहते नजर आते हैं।

भारत जैसे धर्म परायण देश में भी तांत्रिक, ओझा, सयाने जैसे करामाती, कुचमाती आज भी देवी-देवताओं के नाम पर भोली, अशिक्षित जनता को चित्र-विचित्र लोभ-लालच देकर मनोकामनाओं की पूर्ति के बहाने नरबलि जैसे क्रूर और जघन्य कुकृत्यों में संलग्न किए हुए हैं। किंतु आश्चर्य तब होता है जब इस घिनौने अपराध में गरीब और अशिक्षित ही नहीं, धनी, शिक्षित व्यक्ति भी जा फँसते हैं। कोई गढ़े-खजाने को पाने के लालच में, कोई बाँध, कुआँ, भवन-निर्माण की सुदृढ़ता सफलता के लोभ में, कभी बांझपन मिटाने, सूनी गोद में बच्चा पाने के चक्कर में, मुकदमे की जीत, प्राकृतिक प्रकोप, बाढ़, अनावृष्टि जैसी विपदाओं से बचाव, अच्छी फसल पाने के लोभ में बालक, बूढ़े, स्त्री तक की बलि चढ़ाने में नहीं हिचकते।

गत वर्षों में दी गई नरबलियों के समाचार विभिन्न समाचार पत्रों में छपे थे जो अपने आप में दिल दहलाने वाले और वीभत्स थे। राजस्थान के मादरा नामक स्थान पर निर्माणाधीन बाँध की सफलता व सुदृढ़ता के लिए ठेकेदार द्वारा स्कूली छात्र की बलि दे दी गई

जिसे बाद में पुलिस ने गिरफ्तार किया, तब पूरा रहस्य सामने आया। इसी प्रकार बाराबंकी जिले के खेता सराय गाँव के एक धोबी ने अपने डेढ़ वर्षीय बालक को अपनी सोती हुई पत्नी की बगल से उठाकर गोबर की मूर्ति के सामने चौराहे पर गला काटकर इसलिए बलि चढ़ा दिया कि किसी तांत्रिक ने उसे बताया था कि ऐसा करने से उसे गढ़ा धन मिल जाएगा। उसे धन तो नहीं मिला बेटे से हाथ धोना पड़ा और कारागार की सजा भी भुगतनी पड़ी।

इसी प्रकार की एक घटना पिछले दिनों समाचार पत्रों में थी कि मुकदमे की जीत के लिए देवी के सामने बेतिया (चंपारण) बिहार में एक व्यक्ति ने अपने पुत्र को बलि दे दिया। उपस्थित भीड़ भयवश हाथ जोड़े खड़ी रही। चिगलपुर त्रिचूर में ३२ वर्षीय ग्रामीण को पुलिस ने गिरफ्तार किया। किसी स्वामीजी की सलाह पर उस व्यक्ति ने अपनी पुत्री को इसलिए बलि चढ़ा दिया कि अनावृष्टि के प्रकोप से उसकी फसल बच जाए। बाढ़ और अतिवृष्टि के भय से डीमाडोह के ग्रामीणों ने एक गर्भवती स्त्री व उसके भ्रूण की बलि देवी को अर्पित कर दी। उ० प्र० के बेलखरा ग्राम में एक अंधे नवयुवक की नेत्र ज्योति की वापिसी के लिए उसके परिवार वालों ने पड़ोस की ९ वर्षीय बालिका को ही देवी के सामने बलि दे दिया। इसी प्रकार राजस्थान के किसी गाँव में संतानहीन दंपत्ति ने संतान की प्राप्ति के लालच में दो अबोध शिशुओं की बलि से देवी को रक्त-स्नान कराया तथा स्वयं स्नान किया। इसके अतिरिक्त वनवासी, गिरिजनों, आदिवासी जातियों में नर बलि की अजीब व अनोखी प्रथा है। वे युद्ध विजयोल्लास, पर्व, त्यौहारों, अच्छी फसल, अच्छा शिकार प्राप्त करने, वांछित मंगेतर मिलने के उपलक्ष्य में नरबलि देते रहते हैं। गत दिनों अखबारों में था कि बिहार के पलामू जिले के पूचक भरमाती गाँव के एक आदिवासी ने 'उठाँगपूजा' के अवसर पर अपने सात वर्षीय पोते को इसलिए बलि चढ़ा दी कि आगामी फसल अच्छी हो।

इससे पूर्व भी उठांगपूजा पर बलि दिए जाने की प्रथा प्रचलित रही है। अब भी बस्तर, आसाम, मेघालय आदि की जन-जातियों में अच्छी फसल प्राप्त करने के लिए नरमुंड खेत में गाढ़े जाने की प्रथा है। बस्तर जिले में कायमपल्ली गाँव में मंदिर के एक पुजारी के कहने पर अच्छी शिकार हाथ लगने हेतु ढाई साल के बच्चे की बलि दे दी गई।

कितने ही लोगों की बलि से पूर्व आकस्मिक सहायता मिलने से जान बचा ली गई है। १५ दिसंबर ८१ के नवभारत टाइम्स में छपी खबर के अनुसार रायपुर जिले के अटारी और सरसोवा ग्राम में दो वर्षीय बालक चंदन को व ४ अन्य व्यक्तियों को नरबलि से पूर्व लोगों द्वारा देख लिए जाने पर ही उनकी जान बचाई जा सकी, अन्यथा नर बलि से पूर्व की तैयारियाँ स्नान-पूजन आदि की जा चुकी थी। इसी प्रकार ३१ दिसंबर ८१ को नवभारत टाइम्स में छपे समाचार के अनुसार पाली जिले में १२ कि० मी० दूर पहाड़ पर स्थित देवी के मंदिर में पुजारी के चंगुल से भंवरसिंह को छूटने का मौका मिला। यदि लोगों ने समय पर पहुँचकर पगला गए पुजारी का विरोध न किया होता तो भंवरसिंह की जिंदगी भंवर में ही डूब गई होती और किसी दुनियादार को खबर भी न होती।

नर बलि के सही आंकड़े तो ज्ञात होना संभव नहीं, क्योंकि इस कुकृत्य को लोग लुक-छिपकर करते हैं, किंतु समाचार पत्रों में छपी खबरों के आधार पर समाजशास्त्रियों का आकलन है कि भारत में अभी भी वर्ष भर में तीन सौ से अधिक नर बलियाँ दे दी जाती हैं। इसके अतिरिक्त निर्दोष लड़कियों की बलि देश में प्रतिवर्ष चढ़ा दी जाती है। यह सब कुकृत्य इस अध्यात्मवादी देश में तब होते हैं जब ८० लाख बाबाजी और ढाई करोड़ पंडे-पुजारी मात्र धर्म को जीवित रखने की दुहाई देकर आजीविका चलाते और सुविधाएँ प्राप्त करते रहते हैं। किंतु कुरीतियाँ मूढ़ मान्यताएँ, अंधविश्वास, रूढ़िवादिता,

दहेज, अशिक्षा जैसी अवांछनीयताएँ घटने के बजाए सुरसा के मुँह जैसी फैलती चली जाती हैं, जबकि धर्मध्वजी प्रहरियों के रहते इन्हें पनपने का अवसर ही नहीं मिलना चाहिए था। समय रहते चेता जाए यही श्रेयस्कर है। समझदार लोग आगे आएँ तो इन कुरीतियों को देखते-देखते मिटाया जा सकता है। इसमें जन-जन का सहयोग अपेक्षित है।

कैसा विचित्र है अंधविश्वासों के साये में पलता यह जीवन!

भारतीय समाज के पास अपनी उच्च संस्कृति और आध्यात्मिक उत्कर्ष के शिखर पर पहुँची स्थिति का एक स्वर्णिम पहलू तो है। परंतु दूसरा इतना घृणित पहलू भी है जिसे देखते ही आँखें लज्जा से नीची हो जाती हैं और गर्दन शर्म के मारे झुक जाती है। वह पहलू अपने देश में व्याप्त अंधविश्वासों की प्रवृत्ति से संबंधित है। जिस देश ने उच्च आध्यात्मिक उन्नति के चरम शिखर को स्पर्श किया है वहाँ के नागरिक अंधविश्वास और अविवेक के गहरे गर्त में पड़े सड़ने लगें तो इस विरोधाभास को देखकर सहज ही विश्वास नहीं होता। संदेह होने लगता है कि हमने कभी उच्च आदर्शों की खोज की होगी, शंकास्पद लगती है यह बात कि भारत कभी जगद्गुरु कहलाया होगा और इसने विश्व का आध्यात्मिक मार्गदर्शन किया होगा। संदेह और शंका के कारण भी हैं। अविश्वास होना स्वाभाविक भी है अन्यथा क्या कारण है कि एक ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरी किसी भी सत्ता को न मानने-जानने वालों के अनुयायी भूत-प्रेतों, उद्भिज देवी-देवताओं और जिंद-बवालों के चक्कर में उलझे हुए हों?

संसार के अन्य देशों में भी अंधविश्वासों और अविवेक पूर्ण मान्यताओं, प्रथा परंपराओं का प्रचलन है। अमेरिका, ब्रिटेन तथा रूस जैसे सभ्य कहे जाने वाले देशों में भी अंधविश्वास है। पश्चिमी देशों

के छोटे-बड़े सभी होटलों में प्रायः १३ नंबर का कमरा नहीं रखा जाता, ग्यारह-बारह के बाद वहाँ एकदम १४ नंबर से क्रमांक किया जाता है अथवा १२ ए, १२ बी जैसे नंबर रखे जाते हैं, क्योंकि तेरह का अंक वहाँ अशुभ समझा जाता है। ऐसे ही और न जाने कितने अंधविश्वास इन देशों में प्रचलित हैं पर वे इतने अधिक नहीं हैं जितने कि अपने देश में । यदि इन सभ्य और उन्नत देशों में अंधविश्वासों के प्रचलन को महत्त्व दिया भी जाए तो वे इसलिए क्षम्य हो सकते हैं कि वहाँ कोई भारतीय संस्कृति जैसी उच्च और महान संस्कृति तो रही नहीं, उनका दर्शन और अध्यात्मवाद भारतीय तत्त्वदर्शन की गहराई को छू नहीं पाया। इस कारण भी उनके अंधविश्वासों को क्षम्य कहा जा सकता है। लेकिन भारत के संबंध में ऐसा सोचने का कोई कारण नहीं है।

एक तो अपने देश में संसार का सर्वोच्च कहा जाने वाला तत्वदर्शन, भारत के पास विद्यमान उच्च आध्यात्मिक संपदा। दूसरी ओर कदम-कदम पर छाया हुआ अंधविश्वास। बात केवल भूत-प्रेतों तक ही सीमित रहती तो भी गनीमत थी क्योंकि आध्यात्मिक तत्वदर्शन फिर भी किसी-न-किसी रूप से भूत-प्रेतों के अस्तित्व को तो मानता है। उनके अस्तित्व को प्रमाणित करने वाली अगणित घटनाएँ भी आए दिनों घटती रहती हैं। अस्तित्व उनका है या नहीं, यह प्रश्न उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि लोगों द्वारा उसे अतिरिक्त ढंग से दिया जाने वाला तूल, कभी बेताल तो कभी राक्षस, कभी जिन्न तो कभी जखेया और अधंविश्वासों का इतना जाल-जंजाल है कि गाँव का आदमी कहीं पेशाब करने के लिए बैठेगा तो बार-बार यह सोचेगा कि कहीं यहाँ कोई देवता न रहता हो ? अनजाने अपरिचित स्थानों पर यदि कभी कोई व्यक्ति बिना थूके कहीं बैठ जाए तो रात को सोना मुश्किल हो जाएगा, थोड़ी सी झपकी लगेगी तो कोई भूत-प्रेत या देवी सपने में दीख पड़ने लगेगी।

भूत-प्रेत क्या है? उनका अस्तित्व है या नहीं? यदि है तो इसके क्या प्रमाण हैं और नहीं है तो इस तरह की घटने वाली विचित्र घटनाओं के क्या रहस्य हैं? यह अलग विषय है, पर सर्व सामान्य में इन विषयों को लेकर जिस तरह के किस्से प्रचलित हैं तथा जो मान्यताएँ बनी हुई हैं, उन्हें देखकर लगता है कि वे चिड़िया की तरह हर कहीं दिखाई देने वाले और मच्छर की तरह हर स्थान पर डसने-काटने का इरादा गाँठे बैठे हैं। अँधेरे स्थान में कोई पुराना पेड़ हो, उपेक्षित सा उपयोग में न आ रहा कोई कुँआ हो जो एकांत में पड़ता है, कोई खंडहर पुराने मकान जो बिना मरम्मत किए यों ही टूट रहे हैं। आदि स्थानों के संबंध में आम धारणा बना ली जाती है कि वहाँ कोई जिन्न या प्रेत रहता है। लोगों में यह धारणाएँ इतनी गहराई तक जम जाती या बन जाती हैं कि वे ऐसे स्थानों पर अकेले गुजरने तक में डरते हैं। इस तरह की बातों में तथ्य जरा भी नहीं होता लेकिन आश्चर्य है कि गली-गली और मुहल्लों-मुहल्ले इस तरह के किस्से सुनने को मिल जाते हैं।

भूत-प्रेतों की ही भाँति देवता बैठक के रूप में भी गाँव से लेकर शहरों और कस्बों तक में अंधविश्वासों की भीड़ जुटती है। देवता बैठक ऐसे स्थानों को कहा जाता है जहाँ पीपल वाली, शीतला और भैरों वीर जैसी सत्ताओं की कल्पना कर लोग उनके पास अपनी समस्याओं का हल करने तथा कष्ट कठिनाइयों को दूर करने, रोग बीमारियों से मुक्ति पाने के लिए पहुँचते हैं। उस स्थान पर किसी मूर्ति की प्रतिष्ठा कर ली जाती है और फिर वहाँ का पंडा या पुजारी नहा-धोकर, पूजा की चौकी पर चुपचाप बैठ जाता है। सब लोग शांतिपूर्वक देवता के आने की प्रतीक्षा करते हैं और जब पंडा या पुजारी सिर हिला-हिलाकर उछल-कूद मचाते हुए झूमने लगता है तो समझा जाता है कि देवता आ गए और फिर क्रम से वहाँ आए लोग देवता के सामने अपनी समस्याएँ रखने लगते

हैं। कहीं-कहीं तथाकथित देवता खुद फरियादी को पुकारकर पूछते हैं।

ऐसे नाटकों में फरियादी लोगों की समस्याओं के बड़े अजीब गरीब कारण तथा विचित्र समाधान बताए जाते हैं। कोई कहता है कि अमुक दिन तेरे घर पर फकीर या साधु के वेश में आया था तो तूने मेरा तिरस्कार कर दिया था। कोई कहता है हवा लग गई है। इसी प्रकार इन कारणों से उत्पन्न हुई समस्याओं का समाधान पूजा चढ़ाना, पाँच ब्राह्मण जिमाना अथवा सात बैठक में हाजिर होना सुझाया जाता है। विचारशील लोग इन सुझाए गए समाधानों के पीछे विद्यमान कारणों को आप ही समझ लेते हैं, जैसे पूजा का ही है तो पूजा करने के लिए आते समय भक्त भेंट चढ़ावा भी लाता है। साधु पुरुष को भोजन कराने की बात है तो उसी देवता के पंडे से अच्छा साधु कहाँ मिलेगा? बैठक में हाजिरी देने की बात है तो प्रत्येक भक्त कुछ-न-कुछ दान दक्षिणा लेकर पहुँचता ही है। इस प्रकार इन देवी-देवताओं को देवता बैठकों में धर्म श्रद्धा का दोहन और शोषण का व्यवसाय ही प्रमुख रूप से चलता है।

देवी-देवता आने का ढोंग कर जन-सामान्य की धर्मश्रद्धा का शोषण करने वाले लोग बड़े होशियार होते हैं तथा भक्तों की नब्ज पहचानते हैं। उसी के अनुसार भक्तों की सामर्थ्य देखकर वे समस्याओं का हल समझाते हैं और अंध विश्वासियों की भी बड़ी विचित्र स्थिति होती है। वे स्वयं इन देवी-देवताओं पर इस कदर विश्वास करते हैं कि साधारण सा बुखार भी यदि दो चार दिन के इलाज से ठीक न हो तो उसे अमुक देवता का प्रकोप समझकर उनके स्थानों पर ले जाते हैं। गाँवों में चेचक की देवी, शीतला, मोतीझरा (टाइफाइड) के देवता आदि कितने ही ऐसे चौधरी देवी-देवता विराजमान होते हैं जैसे वे अलग-अलग बीमारियों के डॉक्टर होते हों। बीमारी तो जैसे-तैसे दूर हो जाती है या नहीं भी होती है, किंतु बहुत से लोग यम

देवता की शरण में भी चले जाते हैं। पर अंधविश्वासी लोग उन्हें दूर करने के लिए अपने देवों के पास ही जाएँगे और कोई डॉक्टरी उपचार नहीं लेंगे। ऐसे देवी-देवताओं के यहाँ फरियाद करने के लिए सप्ताह में एक बार अथवा पखवाड़े की कोई तिथि नियत होती है। कहीं-कहीं तो जब भेंट पूजा का सामान जुटाकर जब उन्हें बुलाया जाता है, तभी वे आ जाते हैं।

देवी-देवताओं के पंडों की तरह जो किसी अदृश्य शक्ति का ढोंग नहीं करते पर अपनी कलाबाजियाँ झाड़-फूँक कर दिखाते हैं, ऐसे ओझा सयाने भी हर गाँव में कम-से-कम चार-छह तो मिल ही जाएँगे। वायु दोष या अपच के कारण होने वाली पेट की बीमारियों से लेकर मोतीझरा झाड़ने वालों तथा बिच्छू और साँप का जहर उतारने वाले ओझाओं का अपना व्यवसाय भी गाँवों में बड़ी खूबी और सफलता से चलता रहता है। जाहिर है कि रोग बीमारियों का कारण प्रकृति के अनुसार जीवन न जीने के कारण आए दोष होते हैं अथवा मौसम और मानवी प्रकृति की विषमता के कारण रोग उत्पन्न होते हैं, किंतु आश्चर्य है कि तथाकथित ओझा उनकी जिम्मेदारी दैवी शक्तियों पर ही डाल देते हैं और उन्हें समझा-बुझाकर मनाने की दलाली खाते हैं। समझ में नहीं आता कि संसार में यदि देव-शक्तियों का अस्तित्व है भी सही, तो क्या इसलिए कि वे लोगों को बीमार करते रहें और अपने प्रतिनिधियों की शिकायत पर उन्हें रोग मुक्त कर दें? यदि वास्तव में ऐसा कुछ है तो देव शक्तियों और राक्षसों में क्या अंतर रह जाता है?

ओझा सयानों को पवित्रता की दृष्टि से परखा जाए तो ये सामान्य लोगों की अपेक्षा हीन स्तर के ही होते हैं और उनके पास प्रायः गँवार आदमी या अनपढ़ स्त्रियाँ ही जाया करते हैं। जो उनके लिए चिलम, हुक्के, बोतल और मुर्गे का प्रबंध करते हैं। इसके बाद ओझा सयाने उतार का नाटक करते हैं। जिसमें सात प्रकार की

मिठाई, मुर्गे या बकरी का बच्चा, शराब, बोतल, तंबाकू और गांजे की चिलम तथा पाँच या ग्यारह रुपए गाँव से बाहर रखे जाते हैं। कहना नहीं होगा कि यह उतारा रखने के लिए ओझा सयाने या उसी के परिवार के लोग जाते हैं, क्योंकि अन्य कोई यदि इस काम के लिए तैयार हो जाता है तो भूत-प्रेत दीखने का डर बता दिया जाता है। रात के अँधेरे में ये लोग सामान लेकर निकलते हैं और इनके बाद पता नहीं चलता कि वह कहाँ गया? स्पष्ट है कि अमुक, अमुक देवता की पूजा के बहाने वह सामान ओझा या पुजारी के पेट में ही पहुँचा।

कई अवसरों पर तो ओझा-सयानों पर किया गया विश्वास बुरी तरह घाटे का सौदा सिद्ध होता है। आए दिन समाचार पत्रों में ऐसी घटनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं, जिनसे व्यक्त होता है कि झाड़-फूँक करने वालों पर जरूरत से ज्यादा विश्वास करने वाला चरित्र तथा धन दोनों ही दृष्टि से ठगा गया है। उदाहरण के लिए विष उतारने वालों को ही लिया जाए। वैज्ञानिक रूप से यह सिद्ध हो चुका है कि काटने वाले साँपों में से ९७ प्रतिशत साँप विषहीन होते हैं, उनका विष ही नहीं चढ़ता, केवल मनोवैज्ञानिक भय के कारण ही लोगों की मृत्यु हो जाती है। झाड़-फूँक करने वाले ऐसे लोगों का मनोवैज्ञानिक उपचार भले ही करा दें, परंतु जब कभी वास्तव में विषैले साँप ने काटा हो तो ओझा क्या, देवता भी उसे बचाने में समर्थ नहीं होते हैं और जान चली जाने पर ओझा अधिक देर हो गई अथवा नाग देवता कुपित हो गए यह कहकर अपनी जान बचा लेते हैं।

कहाँ तो हमारा देश किसी काल में जगदगुरु रह चुका है और इस सत्य तक पहुँच सका है कि रोग, शोक, विपत्तियाँ, कठिनाइयाँ अपनी ही गलतियों के कारण आती हैं। ईश्वर भी उनके लिए न तो

जिम्मेदार है न अपने नियमों के विपरीत किसी को छूट देकर सृष्टि व्यवस्था की मर्यादा भंग करता है। इसी कारण सच्चे आस्तिकजन यह मानते रहे हैं कि कठिनाइयाँ ईश्वर की कृपा हैं, क्योंकि इस प्रकार अपने पाप हल्के हो रहे हैं। जहाँ इतनी उच्च मान्यता अपनाई और इतना ऊँचा दृष्टिकोण रखा जाता था वहीं यह स्थिति उपहासास्पद है कि साधारण से बुखार को भी दैवी प्रकोप मानकर उससे छुटकारा पाने के लिए इतस्ततः दौड़ते फिरा जाए। इस स्थिति को उलटे बिना, अंधविश्वासों से छुटकारा पाए बिना पतन को उत्कर्ष में नहीं बदला जा सकता।

भेदभाव की दुष्प्रवृत्ति को उखाड़ फेंका जाए

बड़प्पन और महानता का मापदंड है—'सादा जीवन-उच्च विचार।' अपने लिए कठोरता और दूसरों के साथ सहिष्णुता, सदाशयता और उदारता से युक्त सद्व्यवहार। महानता भीतर से फूटती है और बाहर सद्भाव भरी सत्प्रवृत्तियों के रूप में परिलक्षित होती है। यही वह आधार है जिसको अपनाकर हर कोई महान बनने श्रेष्ठता अर्जित करने का श्रेय सौभाग्य प्राप्त कर सकता है।

वर्ण, जाति, गोत्र, वर्ग, लिंग, धर्म, संप्रदाय के आधार पर बड़े छोटे का भेदभाव करना—एक को सम्मानित करना, दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखना तथा अपमानित करना वैचारिक ही नहीं मानवता की दृष्टि से भी अपराध की श्रेणी में आता है। इन आधारों पर भेदभाव की प्रवृत्ति जिस समाज अथवा राष्ट्र में जितनी अधिक संव्याप्त होगी, वे उतने ही कमजोर होंगे। आपसी मनोमालिन्य और विग्रह के कारण वह समाज धीरे-धीरे विघटित होता जाएगा। कुल, जाति, वर्ग, लिंग, समृद्धि आदि को देखकर व्यक्ति विशेष और वर्ग

विशेष को सम्मानित करने की कुपरंपरा अपने देश में अभी भी विद्यमान है जिससे आए दिन कितनी ही समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

जाति-पाँति, छुआ-छूत, लिंग भेद की दुष्प्रवृत्ति ने भारतीय समाज को कितना जर्जर बनाया है यह किसी से छुपा नहीं है। हिंदू धर्म के अभिन्न अंग जिन्हें अछूत समझकर लंबे समय तक उपेक्षित तिरस्कृत किया जाता रहा उसका प्रतिशोध और आक्रोश इन दिनों धर्म परिवर्तन की विभीषिका के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। नर-नारी के बीच कनिष्ठता, वरिष्ठता के भेदभाव में नारी जाति को दीर्घकाल तक अवनति के गर्त में रहना पड़ा है। अविकसित अवस्था में पड़े रहने से भारतीय समाज को लंबे समय तक उनके अमूल्य योगदानों का मिलना संभव न रहा। उत्थान के लिए किए गए अनेकानेक प्रयासों के बावजूद आज भी नारी समुदाय को पुरुष के समकक्ष अधिकार नहीं प्राप्त हो सके हैं। आए दिन युवतियों के जलने, मरने, आत्महत्या करने के समाचार प्रकाशित होते रहते हैं। पुरुष द्वारा प्रताड़ित और उत्पीड़ित नारियाँ ही ऐसे आत्मघाती कदम उठाती देखी जाती हैं। इन घटनाओं की पृष्ठभूमि उसी समय बन जाती है जब घर में लड़का पैदा होने पर खुशियाँ मनाई जातीं और लड़की होने पर अप्रसन्नता व्यक्त की जाती है।

अमीरी-गरीबी को आधार मानकर एक को सम्मानित करने और दूसरे की अवमानना करने की प्रवृत्ति भी इन्हीं दुष्प्रवृत्तियों की शृंखला में आती है। ईमानदारी श्रमनिष्ठा को प्रतिष्ठा देने की बात तो समझ में भी आती है पर मात्र संपन्नता के आधार पर सम्मान देने की बात गले नहीं उतरती। उचित अनुचित का भेदभाव रखे बिना जहाँ समृद्धि बढ़ाई गई है, वह अनैतिक तो है ही। ऐसे वर्ग को ख्याति मिलते देखकर अन्य व्यक्ति भी नीति अनीति पर बिना ध्यान दिए

जैसे भी हो संपन्न बनने की बात सोचते हैं। प्रतिष्ठा मानवी सत्प्रवृत्तियों और सद्‌गुणों को मिलने लगे, अमीरी-गरीबी के आधार पर भेदभाव बरतने की दुष्प्रवृत्ति हटे तो सामूहिक सुख-शांति प्रगति और समृद्धि में भारी सहयोग मिल सकता है।

अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी मनुष्य-मनुष्य के बीच भेदभाव विभिन्न रूपों में प्रचलित है। वर्णभेद, नस्लभेद, रंगभेद, संप्रदायभेद जैसे कितने ही रोड़े ऐसे हैं जो विश्व बंधुत्व, शांति और एकता के मार्ग में अवरोध के रूप में अड़े हुए हैं। सदियों से विश्व एकता, शांति एवं समता के लिए अनेकानेक प्रयास चल रहे हैं पर इनके रहते अब तक असफलता ही हाथ लगी है। वर्ण और नस्ल के आधार पर पक्षपात करने की मनोवृत्ति जब तक विश्व में बनी रहेगी तब तक विश्व शांति का सपना साकार नहीं हो सकता। रंगभेद की नीति ने मानव जाति पर कितना अत्याचार किया है यह इतिहास के पन्ने पलटने पर पता चलता है।

इसे विचित्र संयोग कहना चाहिए कि पंद्रहवीं सदी के अंत में प्रकृति के विपुल शक्ति साधन श्वेत यूरोपियन समुदाय के हाथों में आ गए। उन्होंने अपने साम्राज्य के विस्तार की योजना बनाई। विभिन्न देशों में कालोनियों की स्थापना की गईं। व्यापार बढ़ाने और समृद्धि अर्जित करने में अश्वेतों का भरपूर सहयोग मिला। पर अश्वेत मानवोचित अधिकारों को प्राप्त करने से सदा वंचित ही बने रहे। इनके साथ गोरों का व्यवहार पशु जैसा था। शोषण और दमन से अश्वेत कमजोर होते गए तथा श्वेत उतने ही समृद्ध और शक्तिशाली बनते गए। १९वीं सदी तक दक्षिणी अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और यूनाइटेड स्टेट्स में नस्लभेद सर्वाधिक दिखाई पड़ा। चल और अचल संपत्ति की भाँति काले और नीग्रो और प्रवासी गुलामों की खरीद बिक्री चलती थी। रंगभेद की नीति के विरुद्ध आवाज उठाने

और संघर्ष छेड़ने पर अब्राहम लिंकन मार्टिनलूथर किंग जैसे कितने ही ज्ञात और अविज्ञात मानवता के पुजारियों को अपनी आहुति देनी पड़ी।

इन प्रयत्नों एवं बलिदानों का प्रतिफल यह निकला कि कानूनी तौर पर नस्लभेद तो समाप्त हो गया पर वह मानसिकता अभी भी बनी हुई है। यूरोपीय देशों में उसकी प्रतिक्रिया अनेकों प्रकार के संघर्षों के रूप में प्रकट हो रही है। जुलाई १९८१ में इंग्लैंड के लिवरपूल, बरमिंघम, साऊथहाल, नाटिंघम, उत्तरी पश्चिमी ल्यूटन, प्रिस्टन नगरों में भयंकर हिंसक संघर्ष श्वेत और अश्वेतों के बीच छिड़ा जिसमें हजारों की संख्या में लोग मारे गए। करोड़ों की संपत्ति आगजनी बम विस्फोटों आदि में नष्ट हुई। यह विष फैलता हुआ अब अमेरिका में भी जा पहुँचा है। वहाँ भी वर्णभेद के कारण परिस्थितियाँ तनावपूर्ण होती जा रही हैं।

दक्षिणी अफ्रीका की बहुचर्चित एपारथीड नीति अभी भी अंतर्राष्ट्रीय तनावों का कारण बनी हुई है। एपारथीड नाम १९४८ के बाद दक्षिण अफ्रीका की नेशनल पार्टी द्वारा दिया गया ताकि वहाँ रहने वाले ३८ लाख गोरों और एक करोड़ ७७ लाख अश्वेतों का रंग के आधार पर विभाजन तथा आपसी संबंधों का निर्धारण हो सके। राज्य पर राजनैतिक एवं आर्थिक प्रभुत्व गोरों का होने से उन्होंने सदा से यही प्रयास किया है कि वे समाज पर प्रभावी रहें। श्वेतों को अधिकाधिक सुविधाएँ और अतिरिक्त अधिकार प्राप्त हैं जबकि कितने ही महत्वपूर्ण सेवाओं में कालों का प्रवेश कानूनी रूप से वर्जित कर दिया है। स्वयं सरकार ने कानून बनाकर रंग के आधार पर वहाँ के निवासियों को चार समुदायों में विभाजित कर रखा है— यूरोयिन्स, एशियन्स, अफ्रीकन्स और कलरेड्स ताकि सहज ही उन्हें वर्णों के आधार पर पहचाना जा सके और सबके लिए अलग-अलग

अधिकारों का निर्धारण किया जा सके। मनमर्जी से यात्रा करने, विवाह रचाने, संपत्ति खरीदने, सार्वजनिक स्थलों पर घूमने, वोट देने जैसे मानवोचित अधिकार भी अश्वेत वर्ग को प्राप्त नहीं हैं, दक्षिणी अफ्रीका की एपार्थीड नीति के विरुद्ध इन दिनों यूरोपीय देशों द्वारा भी तीव्र माँग उठाई जा रही है।

विश्व विख्यात वर्ग-भेद की समाप्ति तो विश्वस्तरीय प्रयासों द्वारा संभव होगी पर अपने देश में फैले इस विष वृक्ष को उखाड़ फेंकने के लिए हर विचारशील को आगे आना चाहिए। जाति, पांति, छुआछूत, अमीर-गरीब, नर-नारी के बीच भेदभाव जैसी कितनी ही दुष्प्रवृत्तियाँ अपने समाज में गहरी जड़ें जमाए बैठी हुई हैं, जो धीरे-धीरे उसे खोखला बना रही हैं। इन्हें जड़ से उखाड़ना होगा।

सामाजिक एकता का घुन जाति-पाँति

भारतीय समाज इन दिनों जितने फिरकों और वर्गों में बँटा हुआ है, उतना वर्ग भेद संसार के शायद ही किसी समाज में हो। अमीर-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित, शहरी-देहाती आदि वर्ग तो खैर नए हैं। ये सभी कोई जड़ भी नहीं हुए हैं और न ही इतने स्थिर हैं कि एक वर्ग का व्यक्ति दूसरे वर्ग में प्रवेश न कर सके। गरीब व्यक्ति अधिक थोड़ा श्रम करे, संपत्ति अर्जित कर ले तो उसे अमीर बनते या कहलाते देर नहीं लगेगी। अशिक्षितों के लिए शिक्षा प्राप्त करने के अवसर सदैव उपलब्ध हैं, इसी प्रकार शहरी और देहाती वर्ग भी बेहद लचीला है। जिस वर्ग भेद की चर्चा यहाँ अभीष्ट है, वह इतना जड़ है कि शताब्दियों से वह भारतीय समाज का अहित किए जा रहा है और आज भी अपने विषैलेपन से समाज को पतन के गर्त में धकेलता जा रहा है।

जाति के आधार पर ऊँच-नीच के भेदभाव ने भारतीय समाज और भारतीय राष्ट्र को जितनी हानि पहुँचाई है, उतनी हानि शायद ही

अन्य किसी कारण से पहुँची हो । एक विशाल भूखंड, आबादी की दृष्टि से दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा देश, उच्च और महान संस्कृति, गौरवशाली अतीत तथा गरिमामय इतिहास, विद्या, बुद्धि और प्रतिभा से लेकर संपदा तक हर दृष्टि से संपन्न देश भारत आज भी कई छोटे-छोटे राष्ट्रों से पिछड़ा हुआ है, तो इसका क्या कारण है? इसका एक ही उत्तर है, जाति के आधार पर ऊँच-नीच का भेद करने वाली मान्यता।

सर्वविदित है कि आज के समय में वही समाज जीवंत प्रखर और उन्नत हो सकता है जो संगठित हो । भारत के पास सब कुछ होते हुए भी संगठित होने की सामर्थ्य का अभाव है, कारण एक ही है—जातीय भेदभाव और ऊँच-नीच की भावना। तथाकथित ऊँची जाति वाले लोग नीची कही जाने वाली जातियों के साथ संबंध स्थापित करना तो दूर रहा उनके पास बैठना तक पसंद नहीं करते और नीची जाति के लोग उच्च वर्ग के लोगों के बराबर बैठने में झिझकते संकोच करते हैं। शहरों और शिक्षित वर्गों में मान्यताएँ भले ही कुछ ढीली हुई हों पर कुछ लाख गाँवों में रहने वाली अधिसंख्य जनता पर न सुधारवादी प्रयासों का अपेक्षित प्रभाव हुआ है और नहीं शिक्षा के प्रसार का । लगभग चार हजार जातियों, उपजातियों और प्रजातियों में विभक्त और बात-बात पर एक-दूसरे को तिरस्कृत तथा बहिष्कृत करने का अभ्यस्त, इस जर्जर समाज का सदा शंकालु सदस्य संसार के उन्नत और प्रगतिशील समुदायों से पिछड़ा नहीं तो क्या रहेगा। कहाँ से आएगा उसमें संगठन का, साथ रहने का, एक दूसरे से कंधा मिलाकर आगे बढ़ने के लिए प्रयास करने का उत्साह, जबकि लोग एक-दूसरे के पास बराबरी से बैठना तक सहन नहीं कर सकते।

जिस समाज के सदस्य एक-दूसरे को पास बिठाने, छूने, छुआ हुआ खाने, खिलाने, लोटा देने व लेने में ही घृणा करते हैं। जिसके मंदिर-मठ, घर-द्वार, घाट-तालाब, गाँव और यहाँ तक कि चलने के रास्ते तक अलग-अलग हैं; ऐसे समाज के साथ रहकर आगे बढ़ने मिल-जुलकर प्रगति प्रयास करने की आशा किस आधार पर की जा सकती है। इस व्यवस्था से एक बड़ी हानि यह हुई है कि भारतीय समाज अनेक भागों में बँट गया। इन भिन्न-भिन्न समाजों, समुदायों ने अपने आपको एक अलग इकाई मानकर अपने दायरे बना लिए तथा उन्हीं में रहकर अपने विकास का प्रयास-प्रयत्न करने लगे। परिणामस्वरूप आचार-विचार, रहन-सहन में भिन्नता आई और अनेक प्रकार के कुनवे फिरके बन जाने से भावनात्मक एकता के आधार नष्ट हुए, फलतः भारतीय समाज की एकरूपता जाती रही।

जितनी जातियाँ उतनी रीतियाँ और जितनी उपजातियाँ उतने रिवाज। सबकी प्रथा परंपराएँ अलग-अलग और इन सबका इतना जमघट इकट्ठा हो गया कि भारतीय धर्म तथा संस्कृति के सच्चे स्वरूप के दर्शन ही दुर्लभ हो गए। प्राचीनकाल में ऐसा कहाँ था। एक समय था जब पूर्व से पश्चिम तक और उत्तर से दक्षिण तक संपूर्ण राष्ट्र एक ही संस्कृति का अनुगामी था। दो ढाई हजार वर्ष पूर्व तक भारतीय समाज पूरी तरह संगठित रहा तथा लोग कर्मों के अनुसार वर्ण धर्म का पालन करते हुए समाज के प्रति अपने कर्तव्य पूरे करते रहे। कोई किसी को किसी से ऊँचा नहीं समझता था और कोई दूसरे को नीचा नहीं दिखाता था। वर्ण विभाजन इस समय विशुद्ध रूप से सामाजिक सुव्यवस्था की दृष्टि से किया गया था।

कालांतर में एक प्रतिगामी विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें कुछ लोगों ने अधिनायकवाद और सामंतशाही का खुलकर प्रचार किया। इस प्रचार के साथ और कई-कई कारण जुड़ते गए तथा धर्म की आंतरिक व्यवस्था का विभाजन होने लगा। अनेक संप्रदाय मत मतांतर बने तथा विघटन आरंभ हुआ। भारतीय समाज इस विघटन से दुर्बल हुआ तथा थोड़े से मुट्ठी भर लोगों से हारकर पतन के गर्त में गिरने लगा। यह पतन क्रम कुछ इस प्रकार चला कि समाज की मूल व्यवस्था ही लड़खड़ा कर चूर-चूर हो गई। अब यद्यपि भारत स्वतंत्र है, अपने भाग्य भविष्य का निर्माता आप है, इसलिए इन कारणों को ढूँढ़ा और निकाला जाना चाहिए, ज़िनके कारण हमें पराधीन होना पड़ा तथा सात हजार वर्षों की गुलामी सहनी पड़ी। स्पष्ट ही वे कारण जातिगत ऊँच-नीच तथा उस आधार पर समाज के विघटन से संबंधित हैं।

विघटन और विभाजन का क्रम केवल कुछ जातियों तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि जातियों के भीतर से कई उपजातियाँ निकलीं। ब्राह्मणों में द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी, गौड़, औदित्य, सारस्वत, सरयूपारी, मिश्र, शुक्ल, वैश्यों में ओसवाल, अग्रवाल, क्षत्रियों में राठौर, चौहान, प्रतिहार जैसी असंख्यों उपजातियाँ उत्पन्न हुईं और इन उपजातियों में गोत्र, वंश जैसी अनेकों शाखा-प्रशाखाएँ, इन सभी के रीति-रिवाज अलग, खान-पान अलग, इनमें भी ऊँच-नीच और कौन किस वंश में शादी करेगा, किसमें नहीं, इनके अलग-अलग नियम। इस प्रकार की जाति उपजातियाँ इतनी अधिक हो गईं कि कोई एक जाति को भी संगठन के एक सूत्र में पिरोना चाहे तो प्राय: असंभव।

इस व्यवस्था के कारण ब्याह-शादियों की व्यवस्था इतनी जटिल और खर्चीली हो गई कि कई तरह की कुरीतियाँ पनपीं तथा लोगों

का एक दूसरे के परिवार से संबंध स्थापित हो जाने पर भी उनमें परस्पर स्नेह सौहार्द्र बनाए रखना असंभव-सा हो गया । क्योंकि वर वधू दोनों पक्ष एक दूसरे की विवशता का लाभ उठाने, 'मोकों और न तोकों ठौर' वाली स्थिति समझने के कारण जिस प्रकार एक दूसरे का दोहन शोषण करने के लिए घात प्रतिघात लगाने की बात सोचते रहे, उससे स्नेह सौहार्द्र बढ़ाना तो दूर रहा, उसे बनाए रखना भी संभव नहीं रहा।

विवाह शादियों के रूप में ही नहीं, जातिवाद ने भारतीय समाज के लिए अपना अस्तित्व बनाए रखने की भी समस्या उत्पन्न कर दी। नीच कही जाने वाली जाति के लोगों से जिस प्रकार का तिरस्कार पूर्ण व्यवहार किया जाने लगा, उससे क्षुब्ध होकर लोगों ने तेजी से धर्म परिवर्तन करना शुरु कर दिया। अपने समाज के लोग गले नहीं लगाते तो अपनत्व पाने और आत्मीयता की प्यास बुझाने के लिए लोग दूसरे धर्म स्वीकार करने लगे। इस कमजोरी का लाभ गैर हिंदू धर्म वालों ने उठाया।

इस प्रकार जातिवाद के रोग ने आज भारतीय समाज के लिए अस्तित्व का संकट उत्पन्न कर दिया है। यह विचारणीय है कि जातिवाद के अभिशाप से ग्रस्त होने के कारण उत्पन्न हुए अस्तित्व का संकट किस प्रकार टाला जाए । वर्तमान परिस्थितियों में इस संकट का टालने के लिए एक ही उपाय रह जाता है कि पुनः संगठन की शक्ति जगाई जाए। विचारशील व्यक्ति आगे आएँ और उच्च जाति के मद में डूबे हुए लोगों को चेत में लाएँ अपने समाज की अस्तित्व रक्षा ही नहीं, उसे सुदृढ़ और शक्तिशाली बनाने के लिए भी ऊँच-नीच के इस भेदभाव को रोकना आवश्यक है। एकदम निकट न आया जा सके तो क्रमशः चरण बढ़ाए जाएँ और विभिन्न

जातियों में वही स्नेह सौमनस्य स्थापित करने का लक्ष्य लेकर आगे बढ़ा जाए जो पहले कभी था। समाज में जातिवाद के आधार पर पलने और बढ़ने वाली ऊँच-नीच की इस भावना को रोका जा सके तभी हम प्रगति की दौड़ में अन्य समाजों की बराबरी कर सकेंगे।

परंपराओं का नहीं, विवेक का अनुसरण करें

समाज में अंधानुकरण कैसे आरंभ होता है, इसका परिचय प्रस्तुत आख्यान में मिलता है। एक मंदिर के पुजारी जी नित्य उठकर शंखनाद करते। मंदिर के पास रहने वाले एक धोबी का गधा यह समझता कि मेरा ही कोई भाई रेंक रहा है। समवेत स्वर में वह भी अपनी आवाज मिलाता था। उसका रेंकना सुनकर पंडित जी समझने लगे—गधा पूर्व जन्म में कोई उच्च संस्कारवान व्यक्ति रहा है तभी तो वह शंख की आवाज सुनकर अपनी भाषा में भगवान का स्मरण करता है। एक दिन गधे की आवाज नहीं सुनाई दी। चिंतित पंडित जी ने पता लगाया क्या कारण है? ज्ञात हुआ गधा नहीं रहा। उनकी स्वयं की मान्यतानुसार गधा तो एक तपस्वी ही था। शंखराज नाम से वे उसे संबोधित भी करने लगे थे। उसके सम्मान में पंडित जी ने घुट-मुंड करवा लिया तथा विधिवत तर्पण भी किया। शाम को अपने यजमान बनिए की दुकान पर पहुँचे। सिर घुटा देखकर उसने जब कारण पूछा तो पंडित जी ने कहा—शंखराज नहीं रहे। बस फिर क्या था। सर्व-साधारण में यह बात बनिए के माध्यम से पहुँची और जितने भी पंडित जी के परिचित थे उनमें से कईयों ने बिना पूरी बात जाने ही अपना सिर साफ करा लिया । एक विवेकशील जब थोड़ा गहराई में गया तो पता चला कि इस कांड का आरंभ एक गधे की

मृत्यु से हुआ है, शेष सभी ने बिना अपनी अक्ल का सहारा लिए अनुकरण मात्र किया है।

अंधविश्वास एवं मूढ़ मान्यताएँ इसी प्रकार सारे समाज में फैलती हैं। परंपराओं को ही लोगों ने धर्म मान लिया है। सत्य को उसके मर्म को जानने का कोई प्रयास ही नहीं करता। कालांतर में जब कोई कारण पता लगाने का शोध कार्य करता है तो ज्ञात होता है कि बात कुछ भी नहीं थी अथवा अविवेक पूर्ण थी।

प्रिंस बिस्मार्क जब जर्मनी के राजदूत की हैसियत से रूस गए तो उन्हें जार के राजकीय अतिथि गृह में ठहराया गया। उन्होंने खिड़की से देखा कि बाहर निर्जन स्थान में एक छोटे-से घास के टुकड़े पर एक सिपाही पहरा दे रहा है। पूछने पर मालूम हुआ कि वहाँ पहरा दिन-रात लगता है। उन्होंने इसका कारण 'जार' से पूछा— उन्हें भी कुछ मालूम न था। अधिकारियों को बुलाया गया। उनसे पूछताछ करने पर पता चला कि उन्हें भी कुछ जानकारी न थी । दफ्तर के कागजात ढूँढ़े गए तो पता चला—९० वर्ष पूर्व रानी कैथेरीन को उस स्थान पर उगे कुदरती फूल बहुत पसंद आए। वे उन्हें बराबर खिड़की से देखा करती थीं। कोई उन्हें तोड़कर न ले जाए, इसलिए वहाँ पहरा बैठा दिया गया। तब से रानी के बाद तीन पीढ़ियाँ और गुजर गईं, वे फूल भी नष्ट हो गए पर किसी ने यह नहीं सोचा कि वहाँ पहरे की जरूरत है या नहीं? परंपरा से नियमानुसार ९० वर्षों से सतत वहाँ पहरा बिना किसी कारण चला आ रहा था। जार ने इस मूर्खता वश चले अंधानुकरण पर क्षोभ व्यक्त किया व तुरंत इसको बंद कराया।

यदि हम थोड़ा विवेक चक्षुओं का प्रयोग करें तो पता चलेगा ऐसी कितनी ही परंपराएँ हमारे आस-पास, घर-परिवार में, समाज-देश में बिना उनका मूल उद्गम जाने चली आ रही हैं, उन्हें

प्रामाणिकता-विवेकशीलता की कसौटी पर कसने का कोई प्रयास नहीं करता। इस तथ्य को भली-भाँति समझा जाना चाहिए कि समाज का नवनिर्माण बिना मूढ़ मान्यताओं के उन्मूलन के संभव नहीं। मान्यताएँ सामयिक होती हैं, तात्कालिक प्रचलनों के आधार पर बनती हैं। मकान बनाने के लिए अस्थायी मचान 'पैड' बनाए जाते हैं व आवश्यकता पूरी होते ही उन्हें हटा देते हैं। यह मूर्खता ही होगी कि इन सभी अस्थायी महत्वहीन प्रचलनों को यथावत चलने दिया जाए व औचित्य-अनौचित्य पर कभी विचार भी न हो।

समय विशेष की आवश्यकता को देखकर किन्हीं प्रचलनों का सूत्रपात किया जाता है। कालांतर में जब वे परिस्थितियाँ नहीं रह जातीं तो परंपराओं का महत्व भी समाप्त हो जाता है और वे रूढ़ियाँ बन जाती हैं। इन रूढ़ियों के निर्वाह से न व्यक्ति का भला होता है और न समाज का। इसके विपरीत रूढ़ियाँ लोगों का मूल्यवान समय, धन और श्रम तो बरबाद करती ही हैं, कई प्रकार की जटिल समस्याएँ भी उत्पन्न करती हैं। उदाहरण के लिए विवाह संस्कार के समय संपन्न किए जाने वाले रीति-रिवाजों को ही लिया जाए। प्रासंगिकता के आधार पर उन्हें कसा जाए तो वे रिवाज न केवल हानिकारक सिद्ध होते हैं, वरन मूढ़ता का भी परिचय देते हैं।

दहेज, नेग-जोग, अलन-चलन और ऐसी ही अनेक रस्मों का प्रचलन किसी समय की आवश्यकता रही होगी। किंतु आज जब परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं, लोगों की स्थिति और आवश्यकता बदल चुकी हैं, तो विवेक की कसौटी पर इन परंपराओं की उपयोगिता सिद्ध होने के स्थान पर निरुपयोगिता ही सिद्ध होती है। इनके अतिरिक्त समाज में विवाह के समय जिन प्रथा परंपराओं का पालन किया जाता है, उनको विकसित समाजों के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो अपना समाज बेहद पिछड़ा और आदिम ही प्रतीत होगा।

संसार के सभी देशों में विवाह का प्रचलन है, उनके रीति-रिवाजों में कई विभिन्नताएँ पाई जाती हैं। कुछ रिवाजों का स्वरूप तो इतना विचित्र है कि उन्हें जान पढ़कर हँसी ही छूटती है। इन रिवाजों के अलावा वर-वधू को अपने रहन-सहन में जो परिवर्तन करने पड़ते हैं अर्थात विवाहित होने का परिचय चिह्न धारण करना पड़ता है वह भी कम विचित्र नहीं है। उदाहरण के लिए ब्राजील के आदिवासी कबीलों में शादी के बाद पुरुषों को होठ और कान में छल्ले पहनने पड़ते हैं। वहाँ किसी भी पुरुष के शादीशुदा होने की पहचान ही यही है। विवाह न होने तक तो युवक को ऐसे कोई छल्ले, चक्के धारण नहीं करने पड़ते, पर शादी की रस्म पूरी होते ही उन्हें अपने होंठ और कान छिदाने पड़ते हैं। यह रस्म पूरी होने के बाद ही वधू-पति के घर जाती है। भारतीय संदर्भ में इस परंपरा को क्या स्त्रियों के नाक-कान छिदाने से नहीं जोड़ा जा सकता है कि उन्हें कान में इयररिंग और नाक में लौंग या नथ पहननी पड़ती है। यह बाल अलग है कि अपने यहाँ यह रस्म विवाह के पूर्व ही संपन्न कर ली जाती है।

पूर्वी नाइजीरिया के आदिवासी क्षेत्रों में शादी के बाद तो नहीं पर शादी के पहले अच्छी-खासी मुसीबत झेलनी पड़ती है। मुसीबत इसीलिए कि दुल्हन अपनी सहेलियों के साथ वर की परीक्षा लेती है कि वह पुरुष है या नहीं। इस परख का अपना अनोखा ही अंदाज है। जिस लड़के की यानी वर की परीक्षा ली जाती है वह अपने सिर पर जानवर का सींग रखकर खड़ा हो जाता है। फिर उसे वधू और उसकी सहेलियाँ चारों ओर से घेर लेती हैं। वर महाशय कमर पर एक छोटा-सा कपड़ा लपेटे खड़े रहते हैं, और इसके बाद वधू पक्ष की बालाएँ उसके नंगे बदन पर कोड़े बरसाना शुरु कर देती हैं।

यह पिटाई उस समय तक चलती रहती है जब तक कि सिर पर रखा सींग जमीन पर नहीं गिर जाता। ऐसा भी नहीं कि कोई जान-बूझकर सिर से सींग गिरा दे। वर को दोनों हाथों से उसे थामे रहना पड़ता है। कोड़ों की मार से लड़का जब तक बेदम होकर गिर नहीं पड़ता तब तक यह परीक्षा चलती रहती है। साथ ही जब तक दूल्हे राजा होशहवास में रहते हैं, उन्हें मुस्कराते रहना पड़ता है। माथे पर शिकन आई कि हो गए परीक्षा में फेल।

विवाह करना कोई हँसी-मजाक तो है नहीं। उसके साथ पत्नी के निर्वाह का उत्तरदायित्व भी जुड़ा रहता है। इसलिए फिजीद्वीप के आदिवासी युवकों को कोई भी अपनी लड़की देने के लिए तब तक तैयार नहीं होता जब तक कि वह अपना खुद का मकान न बना ले। मकान बना लेने के बाद युवक का संबंध तय होता है और विवाह की तिथि निश्चित होती है।

विवाह की तिथि से तीन दिन पहले वर को अपने शरीर में नारियल का तेल और वधू को हल्दी लगानी पड़ती है। चौथे दिन वर कोई दुर्लभ वस्तु लेकर वधू को उपहार देने जाता है। उपहार पाकर कन्या जोरों से रोना शुरु कर देती है। घर के अन्य लोग उसे समझा-बुझाकर चुप कराते हैं और महिलाएँ पास में किसी तालाब में स्नान कराने ले जाती हैं। स्नान के बाद वर-वधू के परिवार वाले उसी तालाब में मछलियाँ पकड़ते हैं जिन्हें विवाह के भोज में परोसा जाता है। भोज के समय वर-वधू एक ही पात्र में भोजन करते हैं और भोजन के बाद समाज उन्हें पति-पत्नी के रूप में मान लेता है।

तिब्बत के कुछ पहाड़ी क्षेत्रों में शादी के लिए आए वर की घर के सभी व्यक्तियों द्वारा परीक्षा ली जाती है। वर जब शादी के लिए कन्या के घर जाता है तो कन्या पक्ष के लोग इधर-उधर छुपकर बैठ जाते हैं। जैसे ही वर घर में प्रवेश करता है वैसे ही लोग उस पर पिल पड़ते हैं और घूँसे-थप्पड़ों से मारते-पीटते हैं। किसी प्रकार बचता-

बचाता वर आगे बढ़ता है तो स्त्रियों का झुंड घेर लेता है। उनसे बचने पर छोटी लड़कियाँ पीछे पड़ जाती हैं। किसी प्रकार इस चक्रव्यूह को वेधकर कन्या तक पहुँच जाने के बाद ही मारपीट रुकती है और फिर शाम के समय दोनों को एक साथ, एक थाली में भोजन कराकर विदा कर दिया जाता है।

विवाह की इन विचित्र परंपराओं में वर को ही कड़ी परीक्षा के दौर से गुजरना पड़ता हो ऐसा नहीं है। लड़कियों को भी अपने ढंग से परीक्षा देकर योग्य गृहणी सिद्ध होने का आश्वासन देना पड़ता है। जैसे मलेनेशिया द्वीप समूह की जन-जातियों में आठ वर्ष की आयु से ही लड़कियों को पिंजरे में बंद कर दिया जाता है। यह पिंजरे पेड़ की पत्तियों और लकड़ियों से बनाते जाते हैं। न इनमें पर्याप्त हवा जा सकती है और न रोशनी। स्थान भी इतना ही रखा जाता है कि लड़की आराम से बैठ सके या सिकुड़कर लेट भर सके। पिंजरे में बंद करने की प्रक्रिया को विवाह की तैयारी कहा जाता है।

पोलेनेशियन द्वीप समूह में एक द्वीप है 'ताहिती'। वहाँ की कवायली जातियों में विवाह के लिए ईश्वर और पूर्वजों की स्वीकृति लेनी पड़ती है। इसके लिए वधू परिवार के घर आँगन में एक वेदी बनाई जाती है। वेदी पर वधू के पूर्वजों की हड्डियाँ तथा खोपड़ियाँ टाँग कर वर-वधू दोनों कुछ दूर खड़े हो जाते हैं। पुजारी उनकी ओर से ईश्वर की स्तुति करता है और पूर्वजों की आत्माओं का आह्वान करता है, कुछ देर बाद किन्हीं संकेतों के आधार पर पुजारी कह देता है कि ईश्वर और पूर्वज सहमत हैं। पुजारी की इस सूचना के साथ ही विवाह कृत्य संपन्न मान लिया जाता है।

सभी परिवारों में कन्याओं के विवाह होते हैं। इसलिए कबाइली लोग अपने पूर्वजों की हड्डियों और खोपड़ियाँ सँभालकर रखते हैं। इस क्षेत्र में विवाह के बाद उपहार की भी विचित्र परंपरा है। जो

व्यक्ति नवदंपत्ति को उपहार देना चाहते हैं वे शार्क मछली के दाँतों से अपने चेहरे को खुरचते हैं और उससे निकलने वाले खून को एक कपड़े पर इकट्ठा करते हैं। यह कपड़ा वर-वधू के पैरों पर रख दिया जाता है। जो सबसे ज्यादा खून निकालता है उसी का उपहार सबसे मूल्यवान समझा जाता है।

सामान्यत: छरहरी और सुगठित बदन की लड़कियाँ सुंदर समझी जाती हैं, पर इबो जाति में सुंदरता का मापदंड इससे भिन्न है। मोटी स्त्रियाँ सुंदर समझी जाती हैं और जो लड़की जितनी मोटी होती है उसे उतनी जल्दी युवक पसंद कर लेते हैं। विवाह संबंध निश्चित हो जाने के बाद कन्या को खूब खिलाया-पिलाया और आराम कराया जाता है ताकि उसके शरीर की चर्बी बढ़ जाए।

न्यूगिनी के आदिवासी नव-दंपत्ति विवाह के तुरंत बाद घर जाने के स्थान पर जंगल में चले जाते हैं। होता यह है कि युवक जिस कन्या से विवाह करना चाहते है उसके संबंध में वह अपने पिता से कहता है। युवक के पिता को यदि अपने बेटे की पसंद अच्छी लगी तो वह अपने कुटुंबी के साथ कन्या के पिता के पास जाता है और लेन-देन ठहराने के साथ विवाह संबंध तय किया जाता है। विवाह के एक दिन पहले वर उपहार सामग्री के साथ कन्या के यहाँ जाने की बजाए जंगल में चला जाता है। अगले दिन कन्या अपने घर से ससुराल पहुँचती है और वहाँ एक दिन ठहर कर पति की तलाश करने के लिए अकेली ही जंगल में चल देती है। प्राय: नव-वधू अपने पति को जंगल में खोज लेती है। ये दोनों तब तक जंगल में ही रहते हैं जब तक कि वधू गर्भवती न हो जाए।

सावधानी यह बरतनी पड़ती है कि इसके पहले दोनों में से कोई भी किसी परिचित व्यक्ति को दिखाई नहीं देना चाहिए। वधू के गर्भवती होने से पहले ही दोनों में से कोई किसी गाँव वाले को दिखाई

दे गया तो विवाह टूट गया मान लिया जाता है। नियत मर्यादाओं को पूरा करते हुए वधू के गर्भवती हो जाने के बाद दोनों वापस गाँव में आ जाते हैं और विवाहोत्सव मनाया जाता है। इस उत्सव में वधू को वर पक्ष वालों के सामने अपने सीखे हुए तमाम गुणों का नाच-नाचकर कुशल गृहिणी होने का सबूत देना पड़ता है।

सूडान में विवाह की रस्म वर और वधू एक साथ नाचकर पूरी करते हैं। इस नाच में यद्यपि गाँव के अन्य स्त्री-पुरुष भी भाग लेते हैं, पर उसमें वर-वधू ही मुख्यतः नायक नायिका होते हैं। वधू के घर जब वर और उसके साथ आए अतिथि पहुँच जाते हैं तो नगाड़े की धुन पर खुले बाल, अर्द्धनग्न युवतियाँ नृत्य करती हैं। नृत्य आरंभ होने के साथ ही वधू का श्रृंगार किया जाने लगता है। श्रृंगार पूरा होने के बाद वर-वधू के नाचने के स्थान पर एक लाल चटाई बिछाई जाती है जहाँ वर को अपनी पोशाक बदलनी पड़ती है। पोशाक बदलने के बाद उस स्थान पर लाल रंग के कपड़े पहने वधू लबादा ओढ़े आती है। वर उस लबादे को हटाता है।

लबादा हटाने के साथ ही वर-वधू नृत्य करती टोलियों में जा मिलते हैं और स्वयं भी नाचने लगते हैं। टोलियाँ बदलती रहती हैं, वर-वधू को तब तक नाचते रहना पड़ता है जब तक कि दोनों में से कोई एक थककर गिर नहीं पड़ता। नाचते-नाचते वधू का गिर पड़ना शुभ समझा जाता है और उसे वधू की वर पर विजय माना जाता है। यह नृत्य समाप्त होने के बाद वधू वर के साथ अपनी ससुराल चली जाती है।

विवाह की इन विचित्र परंपराओं के संबंध में जान-पढ़कर आश्चर्य होना स्वाभाविक है। किंतु यदि इस विषय पर किसी अन्य देश में कहीं कुछ लिखा जा रहा होगा तो भारतीय समाज की विवाह परंपराओं को भी कम विचित्र नहीं कहा जाता होगा। चर्चा कुछ इस प्रकार होती होगी कि भारत में आमतौर पर वर माथे पर जानवर के

पंखों, कांच के टुकड़ों या मोतियों और फूलों से बना मुकुट पहनकर घोड़ों पर चढ़कर वधू के घर जाता है। उसके साथ बहुत से लोग नाचते-गाते बैंड-बाजा बजाते चलते हैं। वर-वधू के पिता से उपहार मांगता है, उपहार न दिए जाने पर ससुराल में भोजन करने से इंकार कर देता है। इस पर उसकी खूब मनुहार की जाती है। यह वर की इच्छा पर निर्भर है कि वह अपनी माँग वापस ले लेता है अथवा मनवा कर ही रहता है।

उपरोक्त समाजों और कबीलों में इन परंपराओं का प्रचलन किस उद्देश्य को सामने रखकर क्यों किया गया होगा? यह शोध का विषय है। भारत में विचित्र और निरर्थक परंपराएँ क्यों प्रचलित हुईं तथा किस समय उनकी क्या प्रासंगिकता रही? यह अलग विवेचन का विषय है। परंतु इतना तो स्पष्ट है कि आज उनमें से अधिकांश अपनी प्रासंगिकता खो चुकी हैं और उन्हें चलते रहने देना न केवल उन्नत समाजों के सामने अपनी स्थिति विदूषकों जैसी बनाता है, अपितु आत्म-प्रवंचना भी है कि एक ओर तो इस अपनी सांस्कृतिक महानता के गीत गाते रहे तथा दूसरी ओर उन प्रथा परंपराओं को बंदरिया के मरे हुए बच्चे की तरह छाती से चिपटाए रहे।

औचित्य की कसौटी पर इन्हें कसें

सर्दियों की ऋतु में गरम कपड़े पहनना आवश्यक होता है पर गर्मियाँ आते ही ऊनी कपड़े पहनना छोड़कर हलके सूती वस्त्र पहने जाने लगते हैं। वर्षा ऋतु में छाता लेकर चलना आवश्यक हो जाता है परंतु शीत ऋतु में इसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। स्वस्थ व्यक्ति को जो आहार दिया जाता है, वही आहार बीमार और रुग्ण व्यक्ति को दिया जाने लगे तो इससे उसका स्वास्थ्य लड़खड़ाने लगता है। खुशहाली के दिनों में पैसा खर्च करना अनुपयुक्त नहीं होता, वैसा खर्च अकाल पड़ने या दुर्दिन आने पर अनुचित सिद्ध

होता है। समय के अनुसार रीति-नीति में, प्रचलन-रिवाजों में, प्रथा-परंपराओं में परिवर्तन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

इन दिनों अपने समाज में कई परंपराएँ ऐसी हैं जिनका प्रचलन किसी देश-काल की स्थिति विशेष को दृष्टिगत रखते हुए किया गया था। उस समय उनकी उपयोगिता भी थी, परंतु आज वैसी स्थिति नहीं है, इसलिए वे परंपराएँ न केवल अपनी उपयोगिता खो चुकी हैं, वरन कुरीतियों के रूप में व्यक्ति तथा समाज की हानि भी कर रही हैं। आवश्यकता इस बात की है कि उनमें समयानुसार परिवर्तन किया जाए, कुछ में संशोधन किया जाए तथा कुछ का पूरी तरह बहिष्कार कर दिया जाए।

परंपराओं के प्रचलन की प्रसांगिकता और समय परिस्थिति विशेष की आवश्यकता को दृष्टिगत रखते हुए बाल विवाह को ही लिया जाए तो प्रतीत होगा कि यह परंपरा उस समय उपयोगी रही होगी जब शासक वर्ग नागरिकों की कुमारी कन्याओं का अपहरण कर उन्हें अपने हरम में डाल लेते थे। अपहरण कुमारी कन्याओं का किया जाता था, इसलिए उचित समझा गया कि उनका विवाह छोटी आयु में ही कर दिया जाए। उस समय यह परंपरा समीचीन थी, परंतु आज न तो वैसी स्थिति है और न ही कोई किसी की जवान लड़की का अपहरण करता है। कहीं कुछ ऐसा होता भी है तो उसे दंडनीय अपराध समझा जाता है और अपराधी को दंड दिया जाता है। अस्तु अब बाल विवाह का कोई औचित्य नहीं है।

मृत्यु भोज की बड़ी-बड़ी दावतें देने का प्रचलन उस समय आरंभ हुआ होगा जब बार-बार अकाल पड़ते थे और अधिकांश लोगों को भूखे प्यासे रहना पड़ता था। तब भूतात्मा की शांति के लिए भूखे-प्यासों को भोजन कराकर पुण्य प्राप्त होने की बात सोची गई, किंतु आज यह परंपरा केवल नाते-रिश्तेदारों, पड़ोसियों और परिचितों

मित्रों को दावत खिला देने तक ही सीमित रह गई है। स्पष्ट है कि इस परंपरा का निर्वाह अब न तो खाने वाले के लिए उचित कहा जा सकता है और न ही खिलाने वाले के लिए कोई गौरव की बात है। जिस घर में सदस्य को मरे हुए अभी पंद्रह दिन भी नहीं हुए हों वहाँ शोक संवेदना व्यक्त करने, दिवंगत व्यक्ति के स्वजनों को सात्वंना देने के स्थान पर दावतें उड़ाने का क्या औचित्य हो सकता है?

दान एक धार्मिक कृत्य है। सभी धर्मग्रंथों और मनीषियों ने इसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। दूसरों की उन्नति के लिए, औरों के कष्ट निवारण के लिए कुछ त्याग किया जाना उदारतापूर्ण, सराहनीय तथा वंदनीय कहा जाना चाहिए। समाज में सभी तरह के लोग रहते हैं। अच्छी स्थिति वाले भी और गिरी हुई स्थिति वाले भी। अच्छी स्थिति वाले अपने से निम्न व्यक्ति के लोगों को ऊँचा उठाने के लिए दान के रूप में सहयोग प्रस्तुत करें, इस उदार सामाजिकता को प्रोत्साहन देने के लिए ही दान को धर्म के दस लक्षणों में गिना गया है। स्पष्ट रूप से गिरे हुओं को ऊपर उठाने के लिए उनकी किसी प्रकार भी सहायता करना दान का उद्देश्य है, पर जब इस उद्देश्य के विपरीत अमुक वंश या अमुक वेश के लोगों को उनकी पात्रता तथा चरित्र का ध्यान रखे बिना स्वर्ग प्राप्ति, पुण्य फल मिलने की आकांक्षा के आधार पर ही दान दिया जाने लगे तो उससे किसी श्रेष्ठ उद्देश्य की पूर्ति होने के स्थान पर अनर्थ और हानि ही होती है। कारण कि वंश या वेष को दान दिए जाने से संबंधित लोगों में—दान लेने वालों में निकम्मापन, निठल्लापन, आलस्य, अकर्मण्यता और दुर्गुण दुर्व्यसन ही पनपते हैं। जब बिना श्रम किए मुफ्त की कमाई हाथ लगती है तो उसका सदुपयोग करने की आवश्यकता कहाँ से अनुभव होगी?

जेवर बनवाने के प्रचलन को ही लिया जाए। किसी समय संग्रहीत धन को सुरक्षित रखने के लिए बैंक जैसी कोई व्यवस्था नहीं

थी। घर में धन रहने से चोरी का डर रहता था। इसलिए लोग अपनी संगृहीत कमाई को सोने-चाँदी के जेवर बनवाकर अपने साथ रखते थे और शरीर पर धारण किए रहते थे। आज स्थिति भिन्न है। बैंकों के रूप में धन को सुरक्षित रहने की प्रथा प्रचलित है और उस पर ब्याज भी मिलता है, जबकि जेवर बनाने में टाँका, मजूरी, टूट-फूट आदि में कितनी ही रकम फालतू चली जाती हैं। साथ ही शत्रुता, ईर्ष्या, डकैती, हत्या जैसे खतरे भी जुड़े रहते हैं। इस स्थिति में केवल परंपराओं का निर्वाह करने के लिए जेवर बनवाए और पहने जाते रहें तो इसमें कोई बुद्धिमत्ता की बात नहीं है।

ब्याह शादियों के अवसर पर अपव्यय की जो कुरीति चल पड़ी है उसका तो कोई औचित्य ही समझ में नहीं आता। दान दहेज से लेकर नेग जोग और धूम-धड़ाके से भेंट दावतों तक न जाने किन-किन मदों में विवाह के अवसर पर खर्च किया जाता है। न केवल विवाह के समय बल्कि विवाह के बाद भी त्योहारों तथा विशेष अवसरों पर कन्या वालों को वर पक्ष के यहाँ अनेकों उपहार भेजने पड़ते हैं। लड़की के बच्चा होने पर उसके यहाँ कोई मांगलिक कृत्य होने से लेकर परिवार में शोक होने तक न जाने कितनी बार भेंट-पूजा चढ़ानी पड़ती है और वह खर्च भी बहुत पड़ जाता है। जो चीजें उपहार स्वरूप दी जाती हैं उनकी कोई विशेष उपयोगिता भी नहीं होती, इसलिए इस धन को एक प्रकार से व्यर्थ गया ही समझना चाहिए। जिनकी आर्थिक स्थिति इस योग्य नहीं होती उनके लिए तो ये रीति-रिवाज भारी पड़ते ही हैं, जिनकी आर्थिक स्थिति इन्हें निभाने योग्य होती है, वे भी निभाकर कोई विशेष प्रसन्न नहीं होते। सामाजिक प्रचलन होने के कारण लोग इन परंपराओं का पालन तो करते हैं पर उन्हें इससे कोई प्रसन्नता नहीं होती।

हमारा समाज जितना प्राचीन है। उतनी ही कुरीतियाँ और प्रथाएँ समाज में घर कर गई हैं, यह कहा जाए तो कोई अत्युक्ति पूर्ण नहीं

होगा। आवश्यकता इस बात की है कि समाज में प्रचलित सभी परंपराओं को उपयोगिता और अनुपयोगिता की कसौटी पर कसा जाए तथा जो अनुपयुक्त दिखाई पड़े उन्हें बेझिझक फेंक दिया जाए, निश्चित ही इसके लिए बड़े प्रयत्न करने पड़ेंगे। इसके लिए व्यापक प्रचार से लेकर सघन जनसंपर्क तथा असहयोग और विरोध जैसे उपाय अपनाने पड़ेंगे। इन कुरीतियों का उन्मूलन इसलिए भी आवश्यक है कि हमारी अधिकांश शक्ति इन्हीं के पालन में नष्ट हो जाती है, उस शक्ति को बचाकर यदि रचनात्मक कामों में लगाया जा सका होता तो सामाजिक प्रगति का पथ-प्रशस्त हो सकता था, अब भी हो सकता है। अंध परंपराएँ और कुछ नहीं मानसिक भ्रांतियाँ हैं। जब तक विवेक दृष्टि से इनका पुनर्मूल्यांकन न हो, इनको आँख मूँदकर चलाते रहना मूढ़ता का चिह्न है।

अवांछनीय प्रचलनों से समझौता न किया जाए

किसी भी समाज अथवा देश की प्रगति में स्वस्थ रीति-रिवाजों एवं सत्परंपराओं का विशेष योगदान होता है। परंपरागत प्रचलन भी कितने ही व्यक्ति एवं समाज की प्रगति में सहायक होते हैं। ऐसे विवेकपूर्ण, उपयोगी रीति-रिवाजों, सत्परंपराओं का अनुकरण उपयोगी है, किंतु साथ ही उन परंपराओं, रीति-रिवाजों, अंधविश्वासों की भी कमी नहीं होती जो प्रचलन के रूप में लंबे समय से चले आ रहे हैं, जबकि विवेक की कसौटी पर कसने पर न तो वर्तमान में उनकी कोई उपयोगिता समझ में आती है और न ही औचित्य। किंतु फिर भी वे समाज में जड़ जमाए हुए हैं और प्रगति में भारी अवरोध उत्पन्न कर रहे हैं।

ऐसी कुरीतियों अंधविश्वासों को हर समाज में देखा जा सकता है, किंतु अपना देश तो इस समय सबसे आगे है। अंधविश्वासों,

कुरीतियों, कुपरंपराओं का जितना बोलवाला यहाँ है उतना अन्य किसी भी दूसरे देश में नहीं। इसके कारण समाज और देश को भारी क्षति उठानी पड़ती है और प्रगति अवरुद्ध हो जाती है।

कुरीतियाँ अपने समाज को जर्जर बना रही हैं। मृतकभोज, दहेज प्रथा, पर्दा प्रथा, बालविवाह, छुआछूत, जातिभेद, लिंगभेद जैसी दुष्प्रवृत्तियों से कितनी ही समस्याओं का समाना करना पड़ता है, उनका लेखा-जोखा लिया जाए तो पता चलता है कि इनके कारण श्रमशक्ति, धनशक्ति का एक बड़ा भाग प्रतिवर्ष यों ही व्यर्थ नष्ट हो जाता है। छुआछूत, जाति भेद, लिंग भेद आदि से समाज विघटन के कगार पर जा पहुँचता है।

देश की पचास प्रतिशत जनता अब भी अपने दैनिक जीवनयापन की अनिवार्य आवश्यकताएँ जुटा पाने में असमर्थ है। ऐसी विषम स्थिति में मृतक भोज जैसी खर्चीली परंपरा को प्रश्रय देना कहाँ तक विवेक सम्मत है? यों मरणोत्तर कृत्य के लिए शास्त्रों के निर्देशानुसार तर्पण, पिंडदान आदि का विधान पूर्ण करना हर दृष्टि से उपयोगी है जो किसी भी विद्वान द्वारा दस या बीस रुपए में पूरा कराया जा सकता है। श्राद्ध के दिन मृतात्मा के प्रति भावाभिव्यक्ति एवं शांति के लिए दो-चार सुपात्रों को भोजन करा देने से यह धार्मिक कृत्य पूरा हो जाता है। जिसका पालन हर व्यक्ति आसानी से कर सकता है। किंतु इस संस्कार का विकृत स्वरूप प्रचलित है समाज में मृतक भोज के रूप में। जिससे प्रतिवर्ष भारी क्षति उठानी पड़ती है।

प्राप्त आँकड़ों के अनुसार देश में प्रतिवर्ष पौने दो करोड़ बच्चे पैदा होते हैं तथा साठ लाख व्यक्तियों की मृत्यु होती है। मृतक भोज की परंपरा सर्वत्र है। पड़ोसियों, मित्रों, सगे-संबंधियों की बड़ी संख्या इस अवसर पर आमंत्रित होती है। अपनी स्थिति से बढ़-चढ़कर हर व्यक्ति खर्च करता है। अनुमानतः औसतन एक मृतकभोज में एक हजार रुपए का खर्च आता है। प्रतिवर्ष साठ लाख व्यक्ति मरते हैं।

मृतक भोज पर कुल खर्च जोड़ने पर छः अरब रुपए होते हैं जो छठी पंचवर्षीय योजना में अनुमानित स्वास्थ्य व्यवस्था व्यय (२ अरब ६८ करोड़) से भी करीब ढाई गुना है।

इतनी बड़ी धनराशि प्रतिवर्ष व्यर्थ चली जाती है जिससे व्यक्ति गत अथवा सामाजिक विकास के अनेकों कार्यक्रम चलाए जा सकते हैं। कितने ही परिवार ऐसे होते हैं जिनकी आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं होती कि इस खर्च को वहन कर सकें, किंतु सामाजिक परंपरा के कारण उन्हें कर्ज लेकर अथवा वस्तुएँ जेवर आदि गिरवी रखकर इस अवांछनीय कृत्य को पूरा ही करना पड़ता है। कितने ही परिवारों में जब कमाने वाले एकाकी व्यक्ति की कुसमय में मृत्यु हो जाती है तो उसके आश्रितों के सम्मुख जीवन निर्वाह का गंभीर संकट उत्पन्न हो जाता है। ऐसे अवसरों पर मृतक भोज जैसी मूर्खतापूर्ण परंपरा से उन्हें और भी अधिक दबाव सहन करना पड़ता है। ऐसी विषम परिस्थितियों में तो और भी अधिक सहानुभूति और सहयोग की अपेक्षा होती है किंतु उलटे एक अतिरिक्त आर्थिक दबाव का सामना करना होता है।

जो संपन्न और समर्थ हैं इन अवसरों पर और भी अधिक प्रदर्शन करते देखे जाते हैं। मृतात्मा की शांति के लिए मृतकभोज जैसी बेवकूफी में एक बड़ी धनराशि फूँकने के स्थान पर सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन में—परमार्थ प्रयोजनों में उसे नियोजित करें तो सच्चे अर्थों में मृतक के प्रति श्रद्धा विकसित होगी और उसे शांति भी मिलेगी। विद्यालय, पुस्तकालय, अस्पताल, वृक्षारोपण जैसे अनेकानेक सामाजिक विकास के रचनात्मक कार्यक्रमों में उस धनराशि का सदुपयोग करके मृतक के प्रति सच्चे अर्थों में श्रद्धांजलि अर्पित की जा सकती है। पारसी जाति के दूरदर्शी व्यक्तियों ने एक ऐसे लोकोपयोगी फंड की व्यवस्था कर रखी है जिसमें किसी व्यक्ति के मरने पर उसकी आत्मा की शांति के लिए उसके परिवार के सदस्य कुछ धनराशि जमा करते हैं। उस फंड से आकस्मिक संकटों, विपदाओं

के अवसरों पर किसी भी पारसी को अर्थाभाव से उत्पन्न कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता है। ऐसी सुपरंपरा का अनुकरण हमें भी करना चाहिए।

दहेज प्रथा, विवाहों में खान-पान, साज-सज्जा के ओछे प्रदर्शन में अपव्यय जैसी कुरीतियों से भी भारी क्षति उठानी पड़ती है। अनुमानतः प्रतिवर्ष पौने तीन करोड़ विवाह संपन्न होते हैं। अमीर और गरीब दोनों ही प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर इस अवसर पर अपनी स्थिति से बढ़-चढ़कर खर्च करते हैं। औसतन राशि एक विवाह में दोनों पक्षों से खर्चा होने वाली दस हजार आँकी गई है। प्रतिवर्ष होने वाले पौने तीन करोड़ विवाहों में अपव्यय की कुल धनराशि २ खरब ७५ अरब होती है। जो भारत सरकार के छठी पंचवर्षीय योजना के कुल सालाना बजट ९९ अरब ६० करोड़ के लगभग बराबर है। इतनी बड़ी धनराशि, जिससे कितने ही लघु उद्योग खोले स्थापित किए जा सकते हैं, जिसमें हजारों व्यक्तियों को रोजगार मिल सकता है, कितने ही अस्पताल अथवा स्कूल चलाए जा सकते हैं, जिसमें स्वास्थ्य और शिक्षा का लाभ लाखों व्यक्ति प्राप्त कर सकते हैं, किंतु प्रतिवर्ष विवाहोन्माद में व्यर्थ यह राशि फूँक दी जाती है, जिससे समाज और देश की प्रगति में असामान्य लाभ मिल सकता था। आर्थिक ही नहीं इन कुरीतियों से होने वाली सामाजिक एवं नैतिक हानियों का भी लेखा-जोखा लिया जाए तो मालूम होगा कि भीतर-ही-भीतर इनसे समाज खोखला होता जाता है और अवांछनीयता, अनैतिकता को प्रोत्साहन मिलता है। बाल विवाह, प्रर्दा प्रथा, जातिभेद, छुआछूत जैसी कुरीतियाँ ऐसी ही हैं जिनसे आर्थिक क्षति तो कम होती है किंतु इनसे उत्पन्न होने वाली समस्याओं से समाज को भारी क्षति उठानी पड़ती है। गुड्डों-गुड़ियों की भाँति अबोध बच्चों को जिन्हें दाम्पत्य जीवन की सामान्य जानकारी भी नहीं होती, विवाह के बंधन में बाँध देना अंततः बहुत महँगा सौदा सिद्ध होता है। अब भी

अपने देश के कितने ही प्रांतों एवं व्यक्तियों में बाल विवाह का प्रचलन जोरों पर है। राजस्थान प्रांत तो इसमें सबसे अग्रणी है। आँकड़ों के अनुसार प्रतिवर्ष १४ वर्ष से कम आयु वाले ५ लाख अबोध लड़के लड़कियों का विवाह अकेले राजस्थान में संपन्न होता है। शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से अविकसित एवं अक्षम ऐसे बाल दंपत्ति असमय बोझ को ढो पाने में सर्वथा असमर्थ होते हैं। बाल विवाह से होने वाली असंख्य हानियों का वर्णन कर सकना इन पृष्ठों पर संभव नहीं, इस विषय में इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि दाम्पत्य जीवन में बँधे इन बच्चों का शारीरिक एवं मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। फलतः वे किसी प्रकार भारभूत बनी जिंदगी के दिन पूरे करते हैं।

बिना किसी औचित्य के इन कुरीतियों का संबंध जब चरित्र से सदाचार से जोड़ा जाता है तब और भी अधिक आश्चर्य होता है। पर्दा प्रथा के विषय में तथाकथित समर्थकों का कहना है कि इससे महिलाएँ शीलवान सदाचारी और चरित्रवान बनती हैं। यह दलील यदि सत्य है तो पुरुष के ऊपर भी लागू होनी चाहिए। नारियों की तुलना में मनुष्य कहीं अधिक उच्छृंखल और मर्यादाहीन हैं। उसे तो अवश्य ही घूँघट मारना चाहिए। विवेक की कसौटी पर कसने पर हर दृष्टि से उक्त मान्यता मिथ्या सिद्ध होती है कि शील और चरित्र का संबंध पर्दा अथवा घूँघट से है। कई बार तो इस प्रथा से विकट समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं एक बार आगरा रेलवे स्टेशन पर ट्रेन से दो बारात उतरीं। बारात की दोनों बधुओं ने एक रंग की मिलती-जुलती साड़ी संयोगवश पहन रखी थी। घूँघट के कारण भीड़ में दोनों वधुएँ बदल गईं तथा बारात के साथ दूसरे स्थान पर जा पहुँचीं । इसका रहस्योद्घाटन दूसरे दिन हो सका कि घूँघट के कारण वधुएँ परस्पर बदल गई हैं। आए दिन इस प्रथा से ऐसी कितनी ही समस्याओं

का सामना करना होता है। मनोवैज्ञानिकों का निष्कर्ष है कि भारतीय नारियों के अविकसित पिछड़ी स्थिति में पड़े रहने तथा आत्महीनता की ग्रंथियों में जकड़े रहने का एक बड़ा कारण पर्दा प्रथा भी है।

पर्दा प्रथा ने नारियों में आत्महीनता की भावना को बढ़ाया है तो लिंगभेद की विकृत मनोवृत्ति ने उसकी गौरव गरिमा से गिराया है। उनकी प्रगति अवरुद्ध की है। लड़का पैदा हुआ तो जैसे राज्य मिल गया हो और लड़की पैदा हुई तो आफत का पहाड़ टूट गया हो जैसे भेदभाव की मनोवृत्ति आज भी भारतीय परिवारों में देखी जा सकती है। अधिकांश परिवारों में लड़कियों की उपेक्षा की जाती और लड़कों को अत्यधिक प्रश्रय मिलता है। फलस्वरूप लड़कों के अपेक्षाकृत उनका विकास नहीं हो पाता। खान-पान, पहनावा-शिक्षा आदि में लड़कों के साथ पक्षपात करने के कारण उनके भीतर आत्महीनता की ग्रंथियाँ बनने लगती हैं और विकास अवरुद्ध हो जाता है। लड़के-लड़की के बीच भेदभाव की, वरिष्ठ-कनिष्ठ की दृष्टि हर दृष्टि से हानिकारक और अदूरदर्शितापूर्ण है।

भेदभाव की, छोटे-बड़े की, ऊँच-नीच की, जाति-पाँति की, छुआछूत की विकृत मनोवृत्ति अपने समाज को लंबे समय से विघटित करती चली आ रही है। कभी कर्मों के आधार पर जातियों का वर्गीकरण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप से किया गया था। सामाजिक सुव्यवस्था की दृष्टि से वह उपयोगी था। किंतु कालांतर में यह मान्यता बदली और जाति का आधार कर्म न रहकर कुलवंश हो गया। कभी ब्राह्मण का पद उसे मिलता था जो अधिक से अधिक त्याग बलिदान का ब्राह्मणोचित आदर्श प्रस्तुत करता था किंतु बाद में ब्राह्मण परिवार में जन्म लेने मात्र से ब्राह्मण समझा जाने लगा भले ही उसके कर्म ब्राह्मण परंपरा के प्रतिकूल क्यों न हों। अन्यान्य जातियों

का आधार भी कर्म था। वर्तमान समय में तो सब गुड़ गोबर हो गया है। न कोई ब्राह्मण रहा, न क्षत्रिय, न वैश्य और न ही शूद्र।

प्राचीनकाल में जातियों का विभाजन कार्यक्षेत्र को ध्यान में रखकर किया गया था जिससे उस वर्ग के सदस्य अपने दायित्वों का निर्वाह भली भाँति कर सकें। छोटे-बड़े की, ऊँच-नीच, छुआ-छूत की दूषित भावना तो बाद में कुछ स्वार्थी और ओछे व्यक्तियों द्वारा फैलाई गई। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का नारा देने वाले मनुष्येत्तर जीवों में भी उस एक परम सत्ता का दर्शन करने वाले ऋषियों ने सदा समस्त मानव जाति को एक अभिन्न घटक माना और तदनुरूप व्यवहार किया। सुसंचालन और सुव्यवस्था की दृष्टि से चार वर्णों का जो वर्गीकरण हुआ था, वह कालांतर में विकृत होता चला गया। निहित स्वार्थियों ने छुआछूत को प्रश्रय दिया और समाज का एक बड़ा वर्ग कटकर अलग हो गया। कितनों ने इस उपेक्षा के कारण क्रिश्चियन धर्म स्वीकार कर लिया। यह हिंदू धर्म एवं समाज पर लगा हुआ एक कलंक है जिसे शीघ्रातिशीघ्र मिटाया जाना आवश्यक है।

कुरीतियों की भाँति अंधविश्वासों, कुपरंपराओं से भी समाज को भारी क्षति होती रहती है तथा अनेकों प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। धर्म के नाम पर कितने ही प्रकार के अंधविश्वास समाज में फैले हुए हैं। मुहूर्तवाद, फलित ज्योतिष, भाग्यवाद, टोना-टोटका, भूत-पलीत, बलि प्रथा जैसे अंधविश्वासों में देश की अधिकांश जनता आज भी जकड़ी हुई है। भगवान का बना हुआ हर दिन और हर घड़ी अपने में शुभ है। अमुक घड़ी अथवा दिन तो अमुक कार्य करने से अधिक सफलता मिलेगी यह मान्यता अविवेकपूर्ण है। ग्रह नक्षत्रों का मनुष्य की सफलता-असफलता में योगदान होता है, प्रचलित फलित ज्योतिष के प्रतिपादन के पीछे कोई आधार नहीं है।

सफलताएँ अपने पुरुषार्थ एवं मनोयोग के बलबूते प्राप्त की जाती हैं जिसमें मुहूर्त की, भाग्य की, ग्रह नक्षत्रों की कोई भूमिका नहीं होती। भाग्य के रूप में अनायास प्राप्त हो जाने वाली उपलब्धियों का संबंध भी पिछले जन्म के कर्मों से होता है।

मुहूर्तवाद के चक्कर में पड़ने से तो कितनी ही बार महत्वपूर्ण अवसर हाथ से निकल जाते हैं और कितनों को सफलताओं से वंचित रहना पड़ता है। देश में प्रतिवर्ष कितनी ही शादियाँ इस कारण से रुक जाती हैं। मंगली लड़की की शादी मंगली लड़के से ही होनी चाहिए अन्यथा भारी अनिष्ट होगा। इस अंधविश्वास के कारण प्रतिवर्ष कितनी योग्य लड़कियाँ अयोग्य लड़कों से तथा कितने ही योग्य लड़के अयोग्य लड़कियों के साथ विवाह के बंधन में बाँध दिए जाते हैं। फलस्वरूप उनमें कभी तालमेल नहीं बैठ पाता और अनेकों प्रकार के विग्रहों से होकर गुजरना पड़ता है।

टोना-टोटका, भूत-पलीत जैसे अंधविश्वासों से कितने ही व्यक्तियों को अपने प्राण गँवाते तक देखा गया है। कितनी ही बीमारियों का संबंध भूत-प्रेतों के प्रकोप अथवा जादू-टोने से जोड़ा जाता है। धूर्त और मूर्ख का अन्योन्याश्रित संबंध है। अंधविश्वासी मूर्खों को अपना स्वार्थ साधने वाले धूर्त मिल जाते हैं। झाड़-फूँक करने वाले ओझाओं, तांत्रिकों, औघड़ों का एक वर्ग ऐसा है जिनकी आजीविका ही अंधविश्वासों के कारण चल रही है। धर्म-कर्म के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ जनता इन धूर्तों के फेर में पड़कर अपना धन, स्वास्थ्य और समय का एक बड़ा भाग गँवाती रहती है। कई गंभीर रोगों में तो चिकित्सा न कराने तथा टोना-टोटका, भूत-पलीत के प्रकोप की आशंका के वशीभूत होकर ओझाओं के फेर में पड़ने से कितने ही व्यक्तियों को जान से हाथ धोना पड़ता है। शहरों में जाग्रति आई है, फलस्वरूप शिक्षित, विचारशील व्यक्ति इन अंधविश्वासों

के चक्कर में नहीं पड़ते, किंतु देश की ८० प्रतिशत जनता देहातों में रहती है तथा उनमें भी ८० प्रतिशत अशिक्षित हैं, अधिकांश इनसे ग्रस्त हैं। आए दिन झाड़-फूँक के, भूत-प्रेत उतारने के नाटक देहातों में चलते रहते हैं। जबकि ओझाओं के चंगुल में आए अधिकांश व्यक्ति किन्हीं न किन्हीं शारीरिक अथवा मानसिक रोगों से ग्रस्त होते हैं जबकि वे उन रोगों का कारण भूत-प्रेत, टोना-टोटका को मानते रहते हैं। उससे उन्हें भारी क्षति उठानी पड़ती है।

धर्म, देवी-देवता के स्वरूप, उनके वरदान एवं अभिशापों के विषय में भी कितनी प्रकार की भ्रांतियाँ फैली हुई हैं। पशुबलि इस विकृत मान्यता का ही एक अमानवीय स्वरूप है। देवी-देवता निरीह पशुओं की बलि देने पर प्रसन्न होते तथा वरदान देते हैं, यह अंधविश्वास देवत्व की गरिमा को भी लांछित करता है। यदि कहीं देवी-देवता हैं तो वे इन दुष्कर्मों से नहीं, सत्प्रवृत्तियों से प्रसन्न होते और वरदान देते हैं। धर्म ग्रंथों में उस प्रकार के दुष्कृत्यों का कहीं भी समर्थन नहीं है। कहीं-कहीं अलंकारिक रूप से पशुबलि का वर्णन अवश्य मिलता है जिसका अर्थ है कि अपने आंतरिक दोष-दुर्गुण को पशु मानकर उनक परित्याग, बलिदान देव सान्निध्य में किया जाए। लगता है स्वार्थी लोगों ने उस साहित्यिक पहेली को अलंकारिक भाषा में तोड़-मरोड़कर अपनी जिह्वा लोलुपता की पूर्ति का साधन बना लिया। खेद है कि ऐसे स्वार्थियों को सफलता भी मिली और पशु बलि जैसा कुकृत्य धर्म के नाम पर प्रचलित हो गया।

अंधविश्वासों के कारण देवी-देवता को प्रसन्न करने के नाम पर नरबलि जैसे जघन्य पाप एवं अपराध करते हुए भी कितने ही व्यक्ति देखे जाते हैं। आए दिन समाचार पत्रों में ऐसी खबरें छपती रहती हैं कि धन आरोग्य अथवा पुत्र की प्राप्ति के लिए किसी तथाकथित साधु तांत्रिक के बहकावे में आकर अमुक बच्चे की बलि चढ़ा दी। अंधविश्वास से प्रेरित होकर मनुष्य कितना निष्ठुर हो

सकता और जघन्य अपराध कर सकता है, इसका परिचय समय-समय पर प्रकाशित होने वाली घटनाओं से मिलता है।

कुरीतियाँ, अंधविश्वास किसी भी समाज अथवा देश की प्रगति में भारी अवरोध उत्पन्न करते हैं। ये भारतीय समाज की लंबे समय से जड़ काटती आ रही हैं। प्रगतिशीलता एवं विचारशीलता की यह माँग है कि इनका सर्वत्र बहिष्कार किया जाए। प्रगति की दिशा में अग्रसर हो सकना तभी संभव है।

राष्ट्र पर लगा कलंक—भिक्षा व्यवसाय

प्राचीनकाल में समाज के चिंतन को ऊर्ध्वगामी, जनमानस को आदर्शवादी, कर्मनिष्ठ, समाजनिष्ठ तथा धर्मनिष्ठ बनाए रखने की प्रक्रिया और आस्थाएँ उभारने में समाज का एक मूर्द्धन्य वर्ग अहिर्निश लगा रहता था। इससे कोई स्थूल उत्पादन नहीं होता था इसलिए ऐसे समाजसेवी वर्ग के भरण-पोषण और आजीविका का उत्तरदायित्व समाज स्वेच्छापूर्वक वहन करने को अपना धर्म कर्तव्य समझता और श्रद्धा भावना के साथ अपनी कमाई में से एक सुनिश्चित अंश ऐसे वर्ग के लिए देता रहता था। ऐसे ही स्वेच्छापूर्वक दिए गए अंश को दान कहा जाता था जिसका सदुपयोग समाजसेवियों के लिए होता था। गुरुकुलों के ब्रह्मचारी और आरण्यकों के प्रौढ़ों में कभी अहंभाव और सेवा से विरक्ति उत्पन्न न हो इसके लिए उन्हें समाज में भिक्षाटन के लिए भी भेजा जाता था। ऋषि, महर्षियों ने दान की गरिमा और महत्ता को अक्षुण्ण बनाए रखने एवं विकृतियों से बचाए रखने के लिए तथा स्वेच्छापूर्वक दानवृत्ति उभारने के लिए भी भिक्षा वृत्ति का अनुसरण किया था। अन्यथा गुरुकुलों में पढ़ने आए राजकुमारों और सामंत कुमारों से भिक्षाटन कराने की बात समझ में नहीं आती।

दान लेने और भिक्षा लेने की यह व्यवस्था विशुद्ध रूप से लोक कल्याण के लिए बनी थी, किंतु अन्य परंपराओं और प्रथाओं की

भाँति समयानुसार इसमें भी विकृतियाँ आती चली गईं। और आज स्थिति यह है कि कहीं भी कोई त्यागी, विरागी, योगी, सिद्ध, समाजसेवी दिखाई नहीं देता जिसे दान देकर भी संतोष अनुभव किया जा सके कि दिया गया दान सार्थक हो सकेगा और उससे लोक कल्याण सध सकेगा। आज तो भिक्षुक को देखते ही लोग घृणा से मुँह फेर लेते हैं। तिरस्कारपूर्वक डाँट-डपटकर भगा देते हैं। क्योंकि भिक्षा और दान की गरिमा और महत्ता को इन भिक्षा व्यवसाइयों ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है।

श्रम से जी चुराने वाले ये हरामखोर और कामचोर भिक्षावृत्ति के कितने घिनोने हथकंडे अपनाते हैं जिन्हें सुनकर ही रोमांच और हृदय विदीर्ण होने लगता है। ऐसे कुकृत्य पशु पिशाचों द्वारा भी नहीं किए जाते जैसे ये कर गुजरते हैं। इनके कारनामों को सुनकर ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मनुष्य की शक्ल में ये ही राक्षस हैं। जिस-तिस के सामने हाथ पसारते, गिड़गिड़ाते भीख माँगते इन्हें राई-रत्ती भर भी संकोच नहीं होता। आत्म सम्मान और प्रतिष्ठा इनसे कोसों दूर चली गई है। मुफ्त में बिना परिश्रम किए धन मिल जाने से इनमें व्यभिचार, अनाचार, मदिरा, माँस, गांजा, भांग, चरस जैसे दुर्गुण पनप जाते हैं। कितनी ही बार ये अबोध भोले-भाले मासूम बालकों को उठा ले जाते हैं और उन्हें विकलांग और अंधा बनाकर भिक्षा व्यवसाय कराते और पैसा बटोरते रहते हैं। अनीति उपार्जित धन से विवेक शून्य हो जाते हैं और घिनौना लोभ दबोचता ही चला जाता है, इससे वे कुछ भी कर डालने पर उतारु हो जाते हैं। कितनी ही बार वे भिक्षा व्यवसाय के लालच में अपने ही परिवारीजनों तक को विकलांग बना डालने में भी नहीं चूकते। बंबई के एक भिखारी ने पहले अपनी पत्नी की टाँग बड़ी बेरहमी से तोड़कर उसे लँगड़ा बनाया और भिक्षा व्यवसाय में लगा दिया और फिर अधिक कमाने के लालच में अपने ही दस वर्षीय बालक की सोते समय गरम तकुए से आँखें

फोड़कर अंधा बना दिया और उसे भी भिक्षा व्यवसाय में लगा दिया। जब उस कुकृत्य का भंड़ा फोड़ हुआ और पकड़ा गया तो उसने स्वीकार किया कि इस धंधे में उसे घर बैठे ४०० (चार सौ रुपया) मासिक की आमदनी हो जाती थी। लोभ बढ़ता गया और वह कुकृत्य करने पर उतारु होता चला गया।

देश के कोने-कोने में भिक्षा व्यवसाइयों की भीड़ अनेकों प्रकार की धूर्तता, चालाकी ढोंग और आडंबर अपनाकर भिक्षा व्यवसाय चलाती देखी जा सकती है। कोई किसी देवता अथवा देवी की आड़ में, कोई विकलांगता के बहाने तथा कोई किसी जादू टोना-टोटका के बल पर लोगों को ठगते रहते हैं। वर्ष १९७१ की जनगणना के आधार पर भिक्षा व्यवसाइयों की संख्या लगभग २५ लाख थी। और वह वर्ष १९८१ तक के एक दशक में अब लगभग ८० लाख तक जा पहुँची है। यह तो अनुमान मात्र है। भिक्षा व्यवसाय में तो धर्मजीवी वर्ग भी सम्मिलित है जिसको तो आँकड़ों में गिना ही नहीं। भारत में कुल ७ लाख गाँव हैं। यदि ६ लाख गाँव में भी औसतन एक मंदिर माना जाए तो ६ लाख मंदिर तो भारत में होने ही चाहिए। बड़े-बड़े नगरों में तो मुहल्ले-मुहल्ले, गली-कूचों तक में मंदिर हैं। यद्यपि बड़े मंदिरों में तो कितने ही पुजारी, मैनेजर, क्लर्क, चपरासी, चौकीदार, सफाई कर्मचारी काम करते हैं। फिर प्रत्येक मंदिर के पीछे बारह कर्मचारी मान लिए जाएँ और औसतन उनके परिवार में ५ व्यक्ति माने जाएँ तब ६० लाख व्यक्तियों को केवल धर्म श्रद्धा से उपार्जित दान की पूँजी ही पाल-पोस रही है। यदि इन भिक्षाजीवियों में साधु बाबा, महंत-मठाधीशों की संख्या जोड़ ली जाए तो ये आँकड़े इनसे भी अधिक जा पहुँचते हैं। इसके अतिरिक्त भाट, मदारी, नट, बाजीगर, नाथ, बैरागी आदि इनसे अलग हैं। प्रत्यक्ष न सही परोक्ष रूप से ये भी भिखारियों की तरह समाज के आश्रित हैं। इस तरह साढ़े चार करोड़ व्यक्ति न कमाते हैं । न उत्पादन करते हैं । न श्रम करने का

ही इनका मन है, बल्कि जनसंख्या वृद्धि में यथासंभव सहयोग करते रहते हैं। इस तरह समाज के ऊपर स्वयं भार बने रहते हैं और संतानों को बढ़ाकर भार बढ़ाते रहते हैं।

जन साधारण में यह भ्रांति घर कर गई कि रोजगार के अभाव में बेचारे गरीब भीख माँगने के लिए मजबूर होते हैं। किंतु सन् १९७८ में भिक्षा व्यवसाय उन्मूलन योजना के अंतर्गत बंबई पुलिस ने लगभग १४०० भिखारियों को गिरफ्तार किया। और उन्हें बंबई के समीप ही किसी बाँध पर मजदूरी के लिए ले जाया गया। जब तक पुलिस अधिकारियों की देख-रेख बनी रही तब तक तो वे जैसे-तैसे काम करते रहे, जैसे ही पुलिस की देख-रेख ढीली हुई कि १२०० से अधिक भिखारी निकल भागे और बाकी रो-पीटकर, हाथ-पाँव जोड़कर, गिड़गिड़ाकर पिंड छुड़ाकर भाग खड़े हुए। अतः इससे स्पष्ट है कि ऐसे कामचोर, हरामखोर, निकम्मेपन के कारण ही भिक्षा व्यवसाय में लगे रहते हैं। यह कहना उचित नहीं लगता कि ये धनाभाव अथवा गरीबी के कारण भीख माँगते हैं।

यदि बारह प्रतिशत अपंगों, विकलांगों, निःसहायों को छोड़कर ७८ प्रतिशत स्वस्थ पेशेवर भिखारियों की संख्या यदि ७० लाख भी मान ली जाए और प्रत्येक पर न्यूनतम दो रुपया प्रतिदिन का भरण-पोषण व्यय माना जाए तो एक वर्ष में तीन अरब ६५ करोड़ और पाँच वर्ष में १८.२५ अरब—सवा अठारह अरब रुपया व्यय होता है। यह राशि किसी भी उत्पादन योजना अथवा उद्योग में व्यय की गई होती तो निश्चय ही बेकारी घटती, शिक्षण संस्थाएँ पनपतीं और स्वच्छ आवास की व्यवस्था जुटाई जा सकती थी । इतनी पूँजी से हजारों हेक्टेयर चंबल के बीहड़ों को समतल करके उपजाऊ भूमि में बदला सकता था, पूरे प्रदेश में नहरों का जाल, बिजली की लाइनें बिछाई जा सकती थी, प्रत्येक गाँव को सड़क से जोड़ा जा सकता था और प्रदेश की प्रत्येक शिक्षा संस्था के पास विद्यालय भवन और विद्यार्थियों

के लिए बोर्डिंग हाउस की व्यवस्था की जा सकती थी। अथवा १ हजार कपड़ा मिलें, १० हजार डिस्पेन्सरी एवं इतने ही स्वच्छ आवास गृह बनाए जा सकते थे, किंतु दुर्भाग्य है कि ऐसा कुछ नहीं हो पाता।

भिक्षा व्यवसाय ने हमारी राष्ट्रीय प्रतिष्ठता को विश्व मंच पर धूमिल किया है। हमारे देश की कंगाल, दरिद्र, निर्धन, भिखारियों, साँपों, साधुओं के देश में गणना की जाती है। जबकि हमारी अनेकों विकास योजनाएँ एशिया के तथा विश्व के देशों में अग्रणी हैं। भिक्षा व्यवसाय के मूल स्रोत पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि अशिक्षा, अंधश्रद्धा, अंधविश्वास, अविवेकशीलता ही इस सबके लिए उत्तरदायी है। भिक्षावृत्ति में संलग्न चतुर लोगों ने इस अंधश्रद्धा और विवेकहीनता का भरपूर लाभ उठाया है। और धार्मिक भावनाओं व धारणाओं को ऐसा तोड़ा-मरोड़ा है कि तथाकथित बुद्धिवादी और पढ़े-लिखे लोग भी इन धूर्तों के चंगुल में जा फँसते हैं।

भिखारियों की प्रतिदिन की आय का लेखा-जोखा कौन करता है। न इनके खर्चों पर किसी की नजर है न आमदनी पर चौकसी। अभी हाल ही में पिछले वर्ष आगरा में यमुना की रेती में अधिक पी लेने से एक भिखारी की मृत्यु हो गई। पुलिस दल ने जब उसकी मृत लाश को दफनाने के लिए उठाया तो उसकी फटी कोथरी से ५ सोने की मोहरें, १ सोने की जंजीर और नौ सौ बायनवे रुपए भिक्षा पात्र से बरामद हुए। इसी प्रकार बिहार के भोजपुर जिले में एक भिखारी की मृत्यु पर १४२५ रुपए नकद, ४५ चाँदी के सिक्के तथा बच्चों के गले की जंजीरें व अंगुठियाँ बरामद की गईं। कानपुर में एक भिखारी को जब पुलिस ने गिरफ्तार किया तो उसकी झोली से देशी तमंचा, ताला तोड़ने के औजार, एक चाकू तथा २६३ रुपए के नोट, चरस व गाँजा बरामद किए गए। वह ७ वर्ष से पुलिस की नजरों से इस वेश में बचा रहा, वह ३ हत्याएँ करने का दोषी था। इसी प्रकार भिखारी के वेष में विदेश का एक जासूस वृंदावन में पकड़ा

गया। युद्ध के दिनों में कितने ही जासूस हवाई अड्डों, सैनिक छावनियों के समीप, भिखारी बाबाओं के वेश में ट्रांसमीटर सहित गिरफ्तार किए जाते रहते हैं। वे हमारी गतिविधियों का भेद अपने देश को देते रहते हैं।
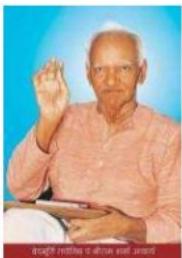
दुनियाँ के किसी देश में भिक्षा व्यवसाय जैसे फरेबी के धंधे का प्रचलन नहीं है जैसा कि हमारे देश में है। विदेशी पर्यटक समाज भ्रमण के लिए जब भी आते हैं तब अध्यात्म के सिरमौर देश की झाँकी भिखारियों, बाबाओं की लंबी-लंबी कतारों के रूप में देखकर उन्हें साँप साधुओं के देश की याद ताजा हो आती है। रेलवे स्टेशनों, देवस्थानों, तीर्थस्थलों, बस स्टैंण्डों पर अनेक बार विदेशी पर्यटक इस दृश्य को फिल्माकर ले जाते हैं और अपने देश में भारत की गिरी तस्वीर प्रस्तुत करते हैं। अभी पिछले ही दिनों अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से भारत को ऋण देने के प्रश्न पर अमेरिकी राष्ट्रपति ने ऋण देने पर आपत्ति करते हुए कहा कि भिखारियों के देश के लिए ऋण की अदायगी कठिन और असंभव पड़ेगी।

समाज और देश हित में यही है भिक्षा व्यवसाय के इस कलंक को यथा शीघ्र मिटाने वाली समाज सेवी संस्थाएँ, सरकारी विभाग और धार्मिक संस्थान आगे आएँ। कानूनों और नियमों में संशोधन किया जाकर धर्मादा, अन्नक्षेत्र, तीर्थों में बेहिसाब फेंके जाने वाले पैसे पर तुरंत प्रतिबंध लगाया जाना समाज देश और दानदाता के हित में होगा। भिखारियों को तीर्थ स्थानों, पर्यटन स्थलों, रेलवे स्टेशनों, बस स्टैण्डों जैसे स्थानों से कड़ाई बरतकर हटा देना चाहिए। विकलांग, अपंग, असहायों को प्रशिक्षण देने के लिए संरक्षण ग्रह बनाए जाने चाहिए। श्रद्धालुओं द्वारा उलीचे गए धन का भिखारियों द्वारा किया जाने वाला दुरुपयोग और दुर्दशा तथा अनैतिक कृत्यों को समाज के समक्ष पर्दाफाश करके उजागर करना चाहिए। फिल्मों, अखबारों, सामुदायिक सूचना केंद्रों, पोस्टरों से भिक्षुओं को भिक्षा देने से रोकने

का अभियान चलाना चाहिए। स्वस्थ भिक्षा व्यवसाइयों में काम करने के लिए आदत डालने का प्रयास किया जाना चाहिए। इसका एक उदाहरण है—अजमेर के रेलवे कंज्यूमर सहकारी स्टोर द्वारा २४७ भिखारी परिवारों को बिस्कुट बनाने का प्रशिक्षण देकर उनसे बिस्कुट बनवाया जाना। कंज्यूमर स्टोर अपनी दुकान से उनकी बिक्री का प्रबंध करता है। इस तरह प्रत्येक भिखारी मजदूर को ७ से १० रु० प्रतिदिन मजदूरी का औसत बैठता है। उन्होंने भिक्षा व्यवसाय छोड़ दिया है। कितने ही स्थानों पर भिक्षुओं को बैंकों ने आर्थिक मदद की है और वे अपना पैतृक धंधा टोकरी बनाना, सिलाई करना, जूता उद्योग, खान उद्योग आदि में काम करने लग गए हैं। जो भिक्षुक भिक्षा व्यवसाय छोड़कर उद्योग धंधा करने लग जाएँ उसके लिए सरकार अथवा समाज के संपन्न वर्ग को आवास निवास की व्यवस्था के लिए प्रबंध करना चाहिए। उनके बच्चों को मुफ्त शिक्षा व औषधि की व्यवस्था की जानी चाहिए। तीर्थ स्थानों पर छुट-पुट रोजगारी, चिल्लर फेंककर पुण्य लूटने वालों को कड़ी चेतावनी देकर इस तरह लुभावने कृत्य करने से कड़ाई से रोका जाना चाहिए। जनमानस के मस्तिष्क में से इस सस्ती पुण्य परंपरा को निकाल फेंकने के लिए राष्ट्रव्यापी आंदोलन चलाया जाना अत्यंत अनिवार्य है।

◆

मुद्रक—युग निर्माण योजना प्रेस मथुरा।

: युगऋषि पं. श्रीराम शर्मा आचार्य- संक्षिप्त परिचय :

ज्यादा जानकारी यहाँ से प्राप्त करें :
http://hindi.awgp.org/about_us

- **विचारक्रान्ति अभियान के प्रणेता** : विचारों को परिस्कृत और ऊँचा उथाने मे समर्थ 3000 से भी अधिक पुस्तकों के लेखन के माध्यम से विश्वव्यापी विचार क्रान्ति अभियान की शरुआत की ।
- **वेद, पुराण, उपनिषद के प्रसिद्ध भाष्यकार** : जिन्हों ने चारों वेद, 108 उपनिषद, षड दर्शन, 20 स्मृतियाँ एवं 18 पुराणों का युगानुकूल भाष्य किया, साथ ही 19 वाँ प्रज्ञा पुराण की रचना भी की ।
- **3000 से अधिक पुस्तकों के लेखक** : मनुष्य को देवता समान, घर-परिवार को स्वर्ग, समाज को सभ्य और समग्र विश्वराष्ट्र को श्रेष्ठ बनाने मे समर्थ हजारों पुस्तकें लिखकर समयानुकूल समर्थ मार्गदर्शन प्रदान किया ।
- **युग-निर्माण योजना के सूत्रधार** : जिन्होंने शतसूत्री युग निर्माण योजना बनाकर नये युग की आधार शिला रखी ।
- **वैज्ञानिक-अध्यात्मवाद के प्रणेता** : जिन्हों ने धर्म और विज्ञान के समन्वय की प्रथम प्रयोगशाला 'ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान' स्थापित कर सिद्ध किया कि "धर्म और विज्ञान विरोधी नहीं, पुरक है "।
- **'२१ वीं सदी : उज्जवल भविष्य' के उद्‌घोषक** : जिन्हों ने '२१ वीं सदी : उज्जवल भविष्य' का नारा दिया तथा युग विभीषिकाओं से भयग्रस्त मनुष्यता को नये युग के आगमन का संदेश दिया ।
- **स्वतंत्रता संग्राम के कर्मठ सैनानी** : जिन्हों ने महात्मा गाँधी, मदन मोहन मालवीय, गुरुवर रविन्द्रनाथ टैगोर के साथ राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए संघर्ष किया एवं स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी "श्रीराम मत्त" के रुप में प्रख्यात हुए ।
- **गायत्री के सिद्ध साधक** : जिन्हों ने गायत्री और यज्ञ को रुढियों और पाखण्ड से मुक्त कर जन-जन की उपासना का आधार तथा सद्‌बुद्धि एवं सतकर्म जागरण का माध्यम बनाया ।
- **तपस्वी** : जिन्होंने गायत्री की कठोरतम साधना कर २४-२४ लाख के २४ महापुरश्चरण २४ वर्षो में सम्पन्न किया । प्रकृति प्रकोप को शांत कर अनिष्टों को टाला, सृजन सम्भावनाओं को साकार किया ।
- **अखिल विश्व गायत्री परिवार के जनक** : जिन्हों ने अपने जीवनकाल में ही अपने साथ करोडों लोगों को आत्मियता के सूत्र में बाँधकर विश्व व्यापी 'युग निर्माण परिवार' - 'गायत्री परिवार' का गठन किया ।
- **समाज सुधारक** : जिन्हों ने नारी जागरण, व्यसन मुक्ति, आदर्श विवाह, जाति-पाँति प्रथा तथा परंपरागत रुढियों की समाप्ति हेतु अद्‌भूत प्रयास किए एवं एक आदर्श स्वरुप समाज में प्रस्तुत किया ।
- **ऋषि परम्परा के उद्धारक** : जिन्हों ने इस युग में महान ऋषियों की महान परंपराओं की पुनर्स्थापना की । लुप्तप्राय संस्कार परंपरा को पुनर्जीवित कर जन-जन को अवगत कराया ।
- **अवतारी चेतना** : जिन्होंने "धरती पर स्वर्ग के अवतरण और मनुष्य में देवत्व के जागरण" की अवतारी घोषणा को अपना जीवन लक्ष्य बनाया और चेतना का ऐसा प्रवाह चलाया कि करोंडों व्यक्ति उस ओर चल पड़े ।

गायत्री परिवार जीवन जीने कि कला के, संस्कृति के आदर्श सिद्धांतों के आधार पर परिवार,समाज,राष्ट्र युग निर्माण करने वाले व्यक्तियों का संघ है। **वसुधैवकुटुम्बकम्** की मान्यता के आदर्श का अनुकरण करते हुये हमारी प्राचीन ऋषि परम्परा का विस्तार करने वाला समूह है गायत्री परिवार। एक संत, सुधारक, लेखक, दार्शनिक, आध्यात्मिक मार्गदर्शक और दूरदर्शी युगऋषि पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य जी द्वारा स्थापित यह मिशन युग के परिवर्तन के लिए एक जन आंदोलन के रूप में उभरा है।